इकाई-1 पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता, भाषा और काव्यरूप

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य
1.1 प्रस्तावना
1.2 पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता
  1.2.1 ऐतिहासिकता
  1.2.2 रचनाकार और रचनाकाल
  1.2.3 मूल पाठ
  1.2.4 साहित्यिक परम्परा
1.3 पृथ्वीराज रासो की भाषा
1.4 पृथ्वीराज रासो का काव्य रूप
  1.4.1 **रासो** काव्य
  1.4.2 कथानक रूढ़ियाँ
  1.4.3 चरित काव्य
1.5 सारांश
1.6 प्रश्न/अभ्यास

1.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई हिंदी काव्य-1 की पहली इकाई है। इसमें **पृथ्वीराज रासो** की प्रामाणिकता पर विचार किया गया है। इसे पढ़ने के बाद आपः

- **पृथ्वीराज रासो** की प्रामाणिकता और उसके आधारों का विश्लेषण कर सकेंगे,
- **पृथ्वीराज रासो** में प्रयुक्त भाषा से परिचित हो सकेंगे,
- इस काव्य ग्रंथ में प्रयुक्त काव्य रूपों की पहचान कर सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

हिंदी काव्य-1 की इस पहली इकाई में हम **पृथ्वीराज रासो** की प्रामाणिकता, भाषा और काव्यरूप पर विचार करने जा रहे हैं। चंदवरदायी कृत **पृथ्वीराज रासो** हिंदी साहित्य के आदिकाल का सर्वाधिक विख्यात, लोकप्रिय और विवादग्रस्त महाकाव्य है। 1883 में बंगाल की रॉयल एशियाटिक सोसायटी ने **पृथ्वीराज रासो** का प्रकाशन आरंभ किया। रचना के प्रकाशित होने के पहले ही इसकी प्रामाणिकता को लेकर विवाद उत्पन्न हो गया और इसका प्रकाशन रोक दिया गया। बाद में काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने इसे प्रकाशित किया। जो ग्रंथ अपने जन्म से ही विवादों से घिरा हो उसे पढ़ने से पहले इस संबंध में दृष्टि साफ हो जानी चाहिए। इसी उद्देश्य से **पृथ्वीराज रासो** की प्रामाणिकता पर विचार सबसे पहले करने का प्रयास किया जा रहा है। प्रामाणिकता के संबंध में जो मुख्य सवाल उठाए गए हैं वे इस प्रकार हैंः

1. **पृथ्वीराज रासो** का मूल रूप क्या है?
2. **पृथ्वीराज रासो** की रचना मूलतः कब की गई?
3. क्या चंदवरदायी ही मूल **पृथ्वीराज रासो** के रचयिता हैं?
4. क्या कवि चंदवरदायी इतिहास प्रसिद्ध राजा पृथ्वीराज चौहान के समकालीन थे?

प्रामाणिकता से जुड़े इन सवालों के अतिरिक्त इस इकाई में **पृथ्वीराज रासो** की भाषा और काव्यरूप पर भी विचार किया है। गौर करने की बात है कि **पृथ्वीराज रासो** की भाषा और काव्यरूप का विश्लेषण कर ही इसकी मूल कथा, संवेदना और शिल्प का पता लगाया जा सकता है। इसी डोर के सहारे हम **पृथ्वीराज रासो** के मूल अंश की खोज कर सकते हैं।

पृथ्वीराज रासो इतना लोकप्रिय क्यों हुआ? उसमें इतना प्रक्षेप क्यों किया गया? असल में, **पृथ्वीराज रासो** की लोकप्रियता में साहित्यिक के साथ-साथ युगीन परिस्थितियों का भी योगदान है। इसके कारण वह अपने युग एवं युगनायक की गाथा बनकर जातीय तथा राष्ट्रीय इतिहास की प्रबल रचना बन गई।

1.2 पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता

पृथ्वीराज रासो आदिकाल का सर्वाधिक विख्यात काव्य है। यह काव्य जितना विख्यात है उतना ही विवादग्रस्त। इस विवाद की पृष्ठभूमि से हमें परिचित हो लेना चाहिए।

पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता जाँचने के लिए विद्वानों ने उसे इतिहास की कसौटी पर कसने की कोशिश की और उन्हें निराशा हाथ लगी। जिन विद्वानों ने इसे इतिहास ग्रंथ के रूप में देखा उन्होंने तो इसे जाली ग्रंथ ठहरा दिया। इसमें कोई शक नहीं कि यदि **पृथ्वीराज रासो** में हम इतिहास ढूंढने चलेंगे तो हमें निराशा ही हाथ लगेगी। आइए, देखें कि **पृथ्वीराज रासो** को इतिहास मानकर चलने वाले विद्वान क्या सोचते हैं:

1.2.1 ऐतिहासिकता

पृथ्वीराज रासो के विषय मे जो अनुश्रुतियाँ प्रचलित हैं उनसे यह आशा रखना स्वाभाविक है कि इस काव्य से पृथ्वीराजकालीन इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ेगा। कहते हैं कि इस काव्य के रचयिता चंदवरदायी अपने आश्रयदाता पृथ्वीराज के दरबारी कवि ही नहीं उनके अंतरंग मित्र भी थे। अतएव इतिहासकारों विशेषतः पाश्चात्य प्राच्यविदों को आशा थी कि इससे 12वीं 13वीं शताब्दी के उत्तर भारत के विषय में प्रामाणिक जानकारी मिलेगी। लेकिन 1876 ई. में डॉ. बूलर नामक विद्वान को कश्मीर में **पृथ्वीराज विजय** नामक काव्य की खंडित प्रति मिली। यह काव्य भी पृथ्वीराज के जीवन पर आधारित है। डॉ. बूलर ने तुलना करके देखा कि **पृथ्वीराज विजय** में उल्लिखित घटनाएँ एवं तिथियाँ इतिहास सम्मत हैं जबकि **रासो** की इतिहास विरूद्ध।

इसके विपरीत अनेक विद्वानों ने **रासो** की प्रामाणिकता पर संदेह करने वाले तर्कों के विरुद्ध मत प्रकट किया और **रासो** की प्रामाणिकता का आग्रह किया। परिणामस्वरूप **रासो** की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता का विवाद चल पड़ा। **रासो** को अप्रामाणिक मानने वालों के तर्क संक्षेप में इस प्रकार हैं:

1. **पृथ्वीराज रासो** के अनुसार आबू के शासक जेत और सलक थे। किंतु इनका कोई उल्लेख तत्कालीन शिलालेखों में नहीं मिलता। इतिहास सम्मत तथ्य यह है कि उस समय आबू पर धारावर्ष परमार का शासन था।

2. **रासो** के अनुसार गुजरात के राजा भीमसेन को पृथ्वीराज ने मारा था। शिलालेखों के अनुसार वह पृथ्वीराज के बाद भी जीवित था।

3. इसी प्रकार **रासो** में लिखा है कि मुहम्मद गोरी को पृथ्वीराज चौहान ने शब्दबेधी बाण से मारा था। ऐतिहासिक तथ्य यह है कि मुहम्मद गोरी 1203 ई. में गक्करों के हाथों मारा गया।

4. **रासो** में लिखा है कि पृथ्वीराज की बहन पृथा का विवाह चित्तौड़ के राजा समरसिंह से हुआ था। यह असंभव है क्योंकि राजा समरसिंह का समय 13वीं शताब्दी ई. का उत्तरार्ध है जबकि पृथ्वीराज की मृत्यु 12वीं शती ई. में ही हो गई थी।

राजस्थान के प्रसिद्ध इतिहासकार महामहोपाध्याय गौरी शंकर हीराचन्द ओझा के अनुसार "इस तरह हमने जाँच कर देखा कि **पृथ्वीराज रासो** बिल्कुल अनैतिहासिक ग्रंथ है। उसमें चौहानों, प्रतिहारों और सोलंकियों की उत्पत्ति संबंधी कथा, चौहानों की वंशावली, पृथ्वीराज की माता, भाई, बहिन, पुत्र और रानियों आदि के विषय की कथाएँ तथा बहुत सी घटनाओं के संवत् और प्रायः सभी घटनाएँ तथा सामंतों आदि के नाम अशुद्ध और कल्पित हैं। कुछ सुनी सुनायी बातों के आधार पर इस बृहत् काव्य की रचना की गई है .....। भाषा की दृष्टि से यह ग्रंथ प्राचीन नहीं दीखता।" (हिंदी साहित्य उद्‌भव और विकास, हजारी प्रसाद द्विवेदी से उद्धृत)

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का विचार है कि "....ऐतिहासिक तथ्यों के साथ बिल्कुल मेल न खाने के कारण अनेक विद्वानों ने **पृथ्वीराज रासो** के पृथ्वीराज के समसामयिक किसी कवि की रचना होने में पूरा संदेह किया है और 16वीं शताब्दी में लिखा हुआ एक जाली ग्रंथ ठहराया है। **रासो** में चंगेज़, तैमूर

आदि पीछे के नाम आने से यह संदेह ओर भी पुष्ट होता है।" (हिंदी साहित्य का इतिहास, रामचंद्र शुक्ल) शुक्ल जी ने इसे परवर्ती रचना और भट्ट-भणन्त कहा।

रासो को प्रामाणिक मानने वाले विद्वानों में बाबू श्यामसुंदर दास और **रासो** के सम्पादक मोहन लाल विष्णु लाल पंड्या उल्लेखनीय हैं। बाबू श्यामसुंदर दास इसे काव्य ग्रंथ मानकर इसे ऐतिहासिक तथ्यों की कसौटी पर कसे जाने को उचित नहीं मानते। पंड्या जी ने तो इसकी तिथियों को इतिहास-सम्मत सिद्ध करने के लिए एक संवत् - आनंद संवत् की कल्पना कर डाली। पंड्या जी के अनुसार **रासो** के उल्लिखित संवतों में विक्रमसंवत् से सर्वत्र 90-91 वर्षों का अंतर पड़ता है। इसका कारण यह है कि **रासो** की उल्लिखित तिथियाँ विक्रमसंवत् की नहीं आनंद संवत् के अनुसार हैं। अपने पक्ष के समर्थन में उन्होंने **रासो** के इस दोहे को प्रस्तुत किया:

एकादश सै पंचदह विक्रम साक अनंद
तिहि रिपुजय पुरहरन को भए पृथिराज नरिंद ।

उनके मतानुसार 'विक्रम साक अनंद' का अर्थ है - 90 (नब्बे) । अ का अर्थ शून्य और नंद का अर्थ नौ। अर्थात 91विक्रम संवत् में से 90 वर्ष घटा देने से 'अनंद संवत्' बनते हैं। (हिंदी साहित्य का इतिहास, रामचंद्र शुक्ल के आधार पर)

पंड्या जी के इस विचार पर विद्वानों ने संदेह प्रकट किया और आनंद संवत् की धारणा मान्य नहीं हुई।

1.2.2 रचनाकार और रचनाकाल

अब यह तय हो गया है कि **पृथ्वीराज रासो** इतिहास ग्रंथ नहीं है काव्य–ग्रंथ है। परंतु प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता का विवाद इस प्रश्न से भी जुड़ा है कि कवि चंदवरदाई पृथ्वीराज के समकालीन थे या उन्होंने बाद में **पृथ्वीराज रासो** की रचना की।

इस काव्य का रचनाकाल और भी विवादास्पद है। ओझा जी ने इसका रचनाकाल 16वीं शताब्दी अनुमानित किया था। शुक्ल जी इसे पृथ्वीराज चौहान के समय का काव्य नहीं मानते। पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी का विचार है कि **रासो** का वर्तमान रूप अधिक से अधिक सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में ही प्राप्त हुआ होगा। **पृथ्वीराज रासो** के एक महत्वपूर्ण सम्पादक डॉ. माताप्रसाद गुप्त के अनुसार सभी दृष्टियों से **पृथ्वीराज रासो** की रचना सं. 1400 के लगभग हुई मानी जा सकती है, इससे पूर्व नहीं।

विद्वान् **रासो** को तो अप्रामाणिक मान ही चले थे, इस बात में ही संदेह करने लगे थे कि चंद नामक कोई **रासो**कार कवि हुआ भी था या नहीं। इसी बीच प्रसिद्ध अपभ्रंश-विद्वान् मुनिजिनविजय जी ने संग्रह के अंश **जयचंद प्रबंध** ही में से चार ऐसे छप्पयों का अनुसंधान किया जो चंद के नाम से हैं। इनमें से तीन छप्पय **पृथ्वीराज रासो** में थोड़े बहुत परिवर्तित रूप में मिल जाते हैं। **पुरातन प्रबंध संग्रह** का संकलन 14वीं शताब्दी में हुआ था। अतएव इसमें संकलित छप्पय इसके पूर्व के होने चाहिए। इसी आधार पर मुनिजी का विचार है कि इससे प्रमाणित होता है कि चंदकवि निश्चिततया एक ऐतिहासिक पुरुष था और वह दिल्लीश्वर हिंदू सम्राट पृथ्वीराज का समकालीन और उसका सम्मानित एवं राजकवि था। उसी ने पृथ्वीराज के कीर्ति-कलाप का वर्णन करने के लिए देश्य प्राकृत भाषा में एक काव्य की रचना की थी जो **पृथ्वीराज रासो** के नाम से प्रसिद्ध हुई। (पृथ्वीराज रासउ सं. डॉ. माता प्रसाद गुप्त पृ. 164 से उद्धृत)

इन चार छप्पयों के मिल जाने से यह निश्चित हो गया कि (1) 14वीं शती के पूर्व चंद नामक कोई कवि हुआ था। (2) उसने पृथ्वीराज चौहान पर काव्य रचा था और (3) वर्तमान रूप में प्राप्त **रासो** में चंद की रची हुई अनेक पंक्तियाँ थोड़े बहुत परिवर्तित रूप में मौजूद हैं।

इस जानकारी से नया प्रश्न यह खड़ा हुआ कि वर्तमान रूप में प्राप्त **रासो** का मूल रूप क्या था, उसमें कितना प्रक्षेप किया गया है?

1.2.3 मूल पाठ

पृथ्वीराज रासो के चार पाठ मिलते हैं (1) बृहत् (2) बृहत्तम (3)लघु और (4) लघुतम। लघुतम लघु में, लघु, बृहत् में और बृहत् बृहत्तम में प्रायः अंतर्भुक्त है। **रासो** का मूल रूप क्या था, इस विषय पर विद्वानों ने पर्याप्त माथापच्ची की है।

आचार्य शुक्ल ने वर्तमान रूप में प्राप्त, अर्थात काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित पाठ को 'भट्ट भर्णत' कहा था। उनके अनुसार "अधिक संभव यह जान पड़ता है कि पृथ्वीराज के पुत्र गोविंदराज या उनके भाई हरिराज अथवा इन दोनों में से किसी के वंशज के यहाँ चंद नाम का कोई भट्ट कवि रहा हो जिसने उनके पूर्वज पृथ्वीराज की वीरता आदि के वर्णन में कुछ रचना की हो। पीछे जो बहुत सा कल्पित भट्ट-भर्णत तैयार होता गया उन सबको लेकर और चंद को पृथ्वीराज का समसामयिक मान, उसी के नाम पर रासो नाम की यह बड़ी इमारत खड़ी की गई हो।" (हिंदी साहित्य का इतिहास)

अर्थात चंद रहा भी हो तो पृथ्वीराज का परवर्ती है। उसकी पृथ्वीराजविषयक स्वल्प रचना में परवर्ती काल में बहुत कुछ जुड़ता गया है। मूलरूप स्वल्प था।

'रासो' में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि पूरा काव्य चंदवरदाई का लिखा हुआ नहीं है। जब गोरी पृथ्वीराज को बंदी बनाकर ले गया तब चंद भी वहीं पहुँचे। जाते समय उन्होंने रासो की प्रति अपने पुत्र जल्हण को सौंपी और कहा कि इसे पूरा करना:

पुस्तक जल्हन हत्थ दै चलि गज्जन नृप-काज

कविराज मोहनसिंह का विचार है कि रासोकार ने ही एक ऐसा संकेत दे दिया है जिससे हम रासो के मूल रूप का निश्चय कर सकते हैं। रासो में एक दोहा इस प्रकार है !

छंद प्रबंध कवित्त यति साटक गाह दुहत्थ।
लघु गुरू मंडित खंडियह पिंगल अमर भरत्थ।।

अर्थात कवित्त, साटक, गाहा, दोहा नामक छंद प्रबंध में हैं। यह प्रबंध खंड लघु गुरू से मंडित है और पिंगलाचार्य, संस्कृत काव्य एवं भरत के अनुसार छंदो का प्रयोग है। (देखिए, हिंदी साहित्य उद्‌भव और विकास - पृथ्वीराज रासो)।

निष्कर्ष यह कि मूल रासो में कवित्त, साटक, गाहा और दोहा - इन्हीं छंदों का उपयोग किया गया था। रासो के मूलरूप को निश्चित करने की पद्धति यह होनी चाहिए कि इन चारों छंदों में रचित पंक्तियों को रखकर बाकी छंदों को प्रक्षिप्त मान लिया जाए।

दिक्कत यह है कि इस बात को कैसे मान लिया जाए कि परवर्ती काव्य के प्रक्षेप इन चार छंदों में न किए गए होंगे। क्या प्रक्षेप करने वालों ने इन छंदों को छोड़कर प्रक्षेप किया होगा? संभवतः इसीलिए कविराज मोहनसिंह के इस विचार को मान्यता नहीं मिली।

1.2.4 साहित्यिक परम्परा

हजारीप्रसाद द्विवेदी ने पृथ्वीराज रासो के मूल रूप का संधान आदिकाल की साहित्यिक परंपरा और काव्य एवं कथानक रूढ़ियों के आधार पर करने का रास्ता सुझाया है। उनका अनुमान है कि "रासो के वर्तमान रूप को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि मूल रासो में भी शुक और शुकी के संवाद की योजना रही होगी। मेरा अनुमान है कि इस मामूली से इंगित को पकड़कर हम मूल रूपों के कुछ रूप का अंदाज़ा लगा सकते हैं।"

वर्तमान रूप में प्राप्त रासो में अनेक स्थलों पर शुक-शुकी संवाद से कथा का उपक्रम है। मध्यकालीन प्रबंध काव्यों में कथा का प्रारंभ प्रायः दो पात्रों के संवाद के माध्यम से किया जाता है। रासो में अनेक स्थलों पर शुक-शुकी संवाद की योजना है:

सुकी कहै सुक संभरौ कहौ कथापति प्रान
पृथु भोरा भीमंग पहु किये हुअ वैर वितान
जंपि सुकी सुक पेम करि आइ अंत जो बत्त
इंछिनि पिथ्यह व्याह विधि सुख्ख सुनंते गत्त
पुच्छ कथा सुक कहो समहं गंध्रवी सुप्तेमहि
स्रवन मंमि संजोगि राज सम धरी सुनेमहि

(संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो, सं. हजारी प्रसाद द्विवेदी, नामवर सिंह)

मध्यकालीन प्रबंधकाव्यों में रचनाकार या वाचक बीच-बीच में स्वयं भी पात्र के रूप में सामने आते हैं। मानस में शंकर-पार्वती, काकभुशुंडि आदि पात्र के रूप में भी आते हैं। रासो में शुक-शुकी कथा कहने सुनने की भूमिका निभाने के साथ-साथ पात्र रूप में भी प्रस्तुत होते हैं। "संयोगिता और पृथ्वीराज की

प्रेम-कथा में पहले तो शुक 'नरभेष धरि साकार' पृथ्वीराज के पास चला जाता है' उधर दुजी (शुकी) भी उड़कर संयोगिता के पास जाती है।"

पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लक्षित किया है कि शुक-शुकी संवाद के रूप में **रासो** का जो रूप प्रस्तुत होता है वह काव्य सौन्दर्य की दृष्टि से भी उत्तम है। पृथ्वीराज के तीन विवाहों इंछिनी, शशिव्रता और संयोगिता की कथा की योजना शुक-शुकी के संवाद के माध्यम से ही की गई है।

पृथ्वीराज रासो के अद्यतन संपादक डॉ. माताप्रसाद गुप्त **रासो** के मूल रूप पर विचार करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि मूल **रासो** में उक्ति**शृंखला** और छंद **शृंखला** की पद्धति थी। उनका कहना है कि **रासो** के लघुतम पाठ में उक्ति और छंदों की यह **शृंखला** बहुत कुछ सुरक्षित है।

डॉ. माताप्रसाद गुप्त ने **रासो** के सभी पाठों का तुलनात्मक विवेचन करके उसका पाठशोधन किया है। इस प्रक्रिया के दौरान उन्होंने पाया कि **रासो** के मूल रूप में उक्ति **शृंखला** एवं छन्द **शृंखला** का निर्वाह था। उक्ति **शृंखला** का तात्पर्य यह कि:

> "यदि ध्यानपूर्वक देखा जाए तो यह दिखाई पड़ेगा कि धा. (धारणोज प्रति) में अनेक स्थलों पर एक रूपक में - प्रायः उसके अंत में जो उक्ति आई है उसकी कुछ न कुछ शब्दावली बाद वाले रूपक में- प्रायः उसके प्रारंभ में - भी है और इस प्रकार एक उक्ति **शृंखला** बनी हुई है।"
> (**पृथ्वीराज रासो**, भूमिका, डॉ. माताप्रसाद गुप्त)

जैसे एक छंद इस प्रकार है:

जो थिर रहै सु कहहुँ किन हू पूँछ तुम्ह सोइ

अगले छंद में 'थिर' शब्द मौजूद है।

थिरू बाले बल्लभ मिलन पु जउ जोवन दिन होइ

पूर्वापर छंदों में उक्तियों के समान प्रयोग को डॉ. गुप्त ने उक्ति-**शृंखला** कहा है।

डॉ. माता प्रसाद गुप्त के अनुसार यदि हम धा. (पाठ) के छंदों को लेकर पुनः ध्यान से देखें और विभिन्न पाठों का मिलान करें तो ज्ञात होगा कि अनेक छंद या रूपक एक ओर अविभक्त थे। किंतु बाद में उनको विभक्त कर बीच-बीच में नए छंद रख दिए गए, जिससे पूर्ववर्ती छंद **शृंखला** रचना में अनेक स्थलों पर त्रुटि हो गई।

डॉ. गुप्त ने **पृथ्वीराजरासउ** का जो संपादन किया है उसमें उक्ति और छंद **शृंखला** का ध्यान रखा है। उनके द्वारा संपादित पाठ लघुतम रूप के निकट है। इसमें कुल मिलाकर 12 खंड या शीर्षक हैं- मंगलाचरण, जयचंद का राजसूय यज्ञ और संयोगिता का प्रेमानुष्ठान, कयमास वध, पृथ्वीराज का कन्नौज गमन, पृथ्वीराज का कन्नौज में प्रकट होना, संयोगिता परिणय, पृथ्वीराज-जयचंद युद्ध (1) पृथ्वीराज जयचंद युद्ध (2) पृथ्वीराज संयोगिता का केलि विलास और षडऋतु, पृथ्वीराज का उद्‌बोधन, शहाबुद्दीन-पृथ्वीराज युद्ध और शहाबुद्दीन का अंत।

अब **पृथ्वीराज रासो** को पूर्णतः जाली, या भट्ट-भणन्त नहीं समझा जाता। जहाँ तक उसके मूल रूप का प्रश्न है आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी उसका निर्णय साहित्यिक परंपरा एवं काव्योत्कर्ष की दृष्टि से करना चाहते हैं और डॉ. माता प्रसाद गुप्त पाठालोचन की दृष्टि से।

1.3 पृथ्वीराज रासो की भाषा

रासो की भाषा के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद हैं। **पृथ्वीराज रासो** की भाषा पर टिप्पणी करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है: "भाषा की कसौटी पर कसते हैं तो और भी निराश होना पड़ता है क्योंकि वह बिल्कुल बेठिकाने है- उसमें व्याकरण आदि की कोई व्यवस्था नहीं। दोहों की और कुछ-कुछ कवित्तों (छप्पयों) की भाषा तो ठिकाने की है, पर त्रोटक आदि छोटे छंदो में तो कहीं कहीं अनुस्वरान्त शब्दों की ऐसी मनमानी भरमार है जैसे किसी ने संस्कृत प्राकृत की नकल की है।" (हिंदी साहित्य का इतिहास)

लंदन की रॉयल एशियाटिक सोसाइटी में एक हस्तलिखित प्रति में लिखा है: चंदवरदायी लिखित पिंगल भाषा में 'पृथुराज का इतिहास'; गार्सा द तासी ने इसे कन्नौजी बोली का काव्य कहा। (वीरकाव्य,

लेखक डॉ. उदय नारायण तिवारी) डॉ. धीरेन्द्र वर्मा **रासो** की भाषा के व्याकरणिक ढाँचे को ब्रजभाषा का मानते हैं। (संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो, डॉ. नामवर सिंह) डॉ. दशरथ शर्मा तथा मीनाराम रंगा इसे 'प्राचीन राजस्थानी ' मानते हैं। (उपर्युक्त से उद्धृत)

डॉ. नामवर सिंह का विचार है कि "वस्तुतः अपभ्रंश के बाद प्रायः पश्चिमी भारत में दो मुख्य भाषाएँ उत्पन्न हुईं - दक्षिणी-पश्चिमी राजस्थान में डिंगल तथा पूर्वी राजस्थान और ब्रजमंडल में पिंगल। काव्य-परंपरा की दृष्टि से डिंगल में रचना करने वाले प्रायः चारण हुए और पिंगल के कृती कवि प्रायः भाट। **पृथ्वीराज रासो** पूर्वी राजस्थान में मूलतः "चंदबलिद भट्ट" द्वारा अपभ्रंशोत्तर युग में रचा गया और अनेक प्रक्षेपों के साथ अपने विभिन्न रूपांतरों में भी वह पिंगल की रचना है। (संक्षिप्त **पृथ्वीराज रासो**)

पश्चिमी भारत की किसी बोली पर आधारित भाषा मध्यदेश की परिनिष्ठित एवं काव्य भाषा रही है। प्राचीन ब्रजी, पूर्वी राजस्थानी कहने से यही बात प्रकट होती है। वस्तुतः **पृथ्वीराज रासो** मूलतः अपने रचना काल की परिनिष्ठित मध्यदेशीय काव्य भाषा में रचा गया होगा जिसका व्याकरणिक ढाँचा अनेक प्रक्षेपों के बावजूद अभी भी सुरक्षित है।

रासो की भाषा पर विचार करते समय स्वयं **रासो**कार की इस उक्ति की उपेक्षा नहीं की जा सकती जिसके अनुसार उन्होंने अपनी काव्य भाषा को "षड्भाषा पुरानं च कुरानं च कथितं मया" कहा है।

यह "षड्भाषा" एक प्रकार की उक्ति-रूढ़ि है। लेकिन यह काव्य-भाषा-विषयक गुत्थी को सुलझाती भी है। बात यह है कि काव्य-भाषा का व्याकरणिक ढ़ाँचा मूलतः तो किसी एक ही बोली या भाषा पर टिका होता है किंतु काव्य-भाषा (या परिनिष्ठित भाषा) में अनेक क्षेत्रों की शब्दावली समाहित होती है। बल्कि थोड़ा-बहुत व्याकरणिक रूप भी क्षेत्रीय बोलियों से प्रभावित हो सकता है। मध्यदेश की काव्य भाषा आजकल खड़ी बोली पर टिकी है किंतु उसमें अवधी, ब्रजी, भोजपुरी, राजस्थानी, पहाड़ी आदि बोलियों के शब्द भी समाहित हैं। यदि मैथिली क्षेत्र के कवि दिनकर खड़ी बोली में रचना करेंगे तो मैथिली का रंग आ जाना स्वाभाविक है, जैसे अज्ञेय की भाषा में पंजाबी या भवानीप्रसाद मिश्र की भाषा में मालवी। बिल्कुल यही स्थिति **रासो** की काव्यभाषा के विषय में भी समझना चाहिए। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने षड्भाषा की इस रूढ़ि पर प्रामाणिक तौर पर विचार किया है।

यद्यपि एक सामान्य साहित्यिक भाषा किसी प्रदेश विशेष के प्रयोगों तक ही सीमित नहीं रह सकती पर वह अपना ढांचा बराबर बनाए रहती है। इसी संदर्भ में उन्होंने भिखारीदास के 'काव्य निर्णय ' का निम्नलिखित दोहा उद्धृत किया जो 'षड्भाषा ' का विश्लेषण करता है:

ब्रज मागधी मिलै अमर नाग यवन भाखानि
सहज फारसी हू मिलैं षड विधि कहत बखान

अर्थात ब्रजी, मागधी, (पूर्वी) अमर (संस्कृत), नाग (प्राकृत-अपभ्रंश), यवन (तुर्की) और फारसी सहज रूप से मिलती हैं यही षडविधि (षड्भाषा) कहलाती है।

कहने का तात्पर्य यह कि जब चंद में 'षडभाषा पुरानं च कुरानं च कथितं मया' कहा तो उनका तात्पर्य छः भाषाओं में काव्य रचना का नहीं था। उनकी काव्य भाषा में 'षड्भाषा' मिली है - मध्यदेश की काव्यभाषा में अनेक क्षेत्रीय शब्दों का समावेश था यह आशय है। 'पुरानं' संस्कृत और 'कुरानं' से आशय तुर्की, अरबी, फारसी से होना चाहिए।

रासो की भाषा आदिकालीन साहित्य की काव्यभाषा है। आदिकाल को संधिकाल कहा जाता है। उसकी काव्यभाषा में क्षीयमाण अपभ्रंश की भाषाई प्रवृत्तियों और उदीयमान आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का मेल है। अपभ्रंश की प्रवृत्तियाँ पूरी तरह समाप्त नहीं हुई हैं और आधुनिक भारतीय भाषाएँ पूर्णतः प्रतिष्ठित नहीं हुई हैं। किंतु **रासो** में पुरानी हिंदी का स्वरूप झलकने लगता है।

पुरानी हिंदी अपभ्रंश से मिलती-जुलती होने पर भी तीन प्रवृत्तियों के कारण अपभ्रंश से भिन्न एवं विशिष्ट हो जाती है। ये प्रवृत्तियाँ हैं - (1) क्षतिपूरक दीर्घीकरण (2) परसर्गों के प्रयोग की बहुलता और (3) तत्सम शब्दों का पुनर्प्रचलन- **क्षतिपूरक दीर्घीकरण** जैसे अज्ज का आज

उदाहरण - कलि मज्झिल जग्गु को करइ आज

परसर्गों के प्रयोग की बहुलता - एक ही पंक्ति में 'के' 'ते', 'से' का प्रयोग

उदाहरण - ससि के मुख तें अहि से निकसे।

तत्समशब्दों का पुनर्प्रचलन : जैसे ब्रह्मांड
संकियं ब्रह्म ब्रहमांड गहियं

पृथ्वीराज रासो की भाषा में अपभ्रंश और पुरानी हिंदी दोनों की भाषाई प्रवृत्तियों का मेल है।

रासो में शब्दों का बहुविधि प्रयोग है - धर्म, धम्म भी हो सकता है और ध्रम्म भी । यह बहुत कुछ तो कवि की ओर से ली जाने वाली छूट है। इस छूट की भी परंपरा है। तुलसीदास जैसे कवि भी 'लसित लल्लाट ' पर लिखते हैं; कासी मग सुरसरि क्रमनासा (कर्मनाशा) । दूसरे, जैसा कि बीम्स ने अनुमान किया है यह भाषा की संक्रमणकालीन स्थिति का भी प्रभाव हो सकता है। अनुस्वार लगाकर शब्दों को छौंकने की प्रवृत्ति पद झंकार के लिए है किन्तु इतनी अधिकता कभी खीझ और कभी मनोरंजन उत्पन्न करती है।

पृथ्वीराज रासो में छंदानुरोध से लघु को गुरू और गुरू को लघु बनाने की प्रवृत्ति है जैसे कमलनु को कमलानु और आहार को अहार। अनुस्वार की अधिकता की ही तरह व्यंजन को द्वित्व बनाने की प्रवृत्ति दिखलाई पड़ती है जैसे दिष्षियत, गज्जन। रूपगठन की दृष्टि से सर्वाधिक उल्लेखनीय बात लुप्त-विभक्तिक पदों का प्रयोग है - ले सब दासि सुजान (सभी सुजान दासियों को लेकर)। पृथ्वीराज **रासो** के शब्द-समूह में सर्वाधिक संख्या तद्भव शब्दों की है। इसके पश्चात् संस्कृत और फिर फारसी आदि के शब्दों की। कनवज्ज समय (लघुतम संस्करण) में कुल 3500 शब्दों का प्रयोग है। इसमें 500 शब्द तत्सम हैं 20 फारसी के, शेष तद्भव हैं, कुछ देशी शब्द भी अवश्य होंगे।

रासो के भाषा विचार की समस्याएँ हैं। सबसे प्रमुख समस्या मान्य पाठ की है जिसे भाषा-विचार का आधार बनाया जाए। इसकी भाषा पर विचार करते समय यह नहीं भूलना चाहिए कि यह प्रबंध काव्य है और अपने युग के इतिहास का प्रतिनिधि काव्य है। इसमें विविध क्षेत्रों के पात्र हैं। उनकी चरित्रगत विशेषताएँ हैं। फिर भाषा की विविध स्तरीयता स्वाभाविक है। यह विविध स्तरीयता **रासो** के महत्व को बढ़ाती ही है, घटाती नहीं।

1.4 पृथ्वीराज रासो का काव्यरूप

हिंदी साहित्य के पाठकों के बीच **पृथ्वीराज रासो** को हिंदी का प्रथम महाकाव्य होने का गौरव प्राप्त है। हमारे यहाँ काव्य-भेद पर अधिकांशतः संस्कृत साहित्य को ध्यान में रखकर विचार हुआ है। **रासो** में महाकाव्य के सभी लक्षण घटित नहीं होते। उदाहरणार्थ **रासो** में छंदों का विधान संस्कृत महाकाव्य जैसा नहीं है। विभिन्न खंडों का विभाजन भी संख्या क्रम से नहीं घटनाओं के आधार पर शीर्षक में है जैसे "कनउज्ज समय" या "कैमास-वध"। वस्तुतः **रासो** की रचना संस्कृत के आचार्य काव्यशास्त्रियों द्वारा निर्दिष्ट लक्षणों के अनुसार नहीं हुई है। काव्य-रूप की दृष्टि से **रासो** प्राकृत अपभ्रंश के प्रबंधकाव्यों की परंपरा में है, संस्कृत महाकाव्यों की परंपरा में नहीं।

पृथ्वीराज रासो में मध्यकाल में प्रचलित प्रबंध काव्यों के अनेक रूपों का सम्मिश्रण हुआ है। उसमें कथा काव्य, चरित काव्य, आख्यायिका आदि के लक्षण मिल जाएँगे। **रासो** तो वह है ही।

'कथा' की कहानी दो व्यक्तियों के संवाद के रूप में प्रस्तुत की जाती थी। इस दृष्टि से **रासो** को कथा कह सकते हैं क्योंकि उसकी कहानी शुक-शुकी एवं कवि एवं कवि-पत्नी के संवाद के रूप में प्रस्तुत की गई है। 'आख्यायिका' की कहानी का नायक कल्पित नहीं (ऐतिहासिक) होता है। संस्कृत में 'कादम्बरी' कथा मानी जाती है और 'हर्षचरित' आख्यायिका। यद्यपि 'हर्षचरित' चरित भी है। इस दृष्टि से **पृथ्वीराज रासो** को आख्यायिका भी कह सकते हैं क्योंकि नायक पृथ्वीराज कल्पित पात्र नहीं है और उसमें बाणभट्ट की भाँति चंद का भी वर्णन है। **रासो** चरितकाव्य भी है क्योंकि उसमें पृथ्वीराज का जीवन-चरित वर्णित है।

1.4.1 रासो काव्य

पृथ्वीराज रासो, रासो काव्य के रूप में विख्यात है। यहाँ हमें **रासो** काव्य के विषय में थोड़ी जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिए। उससे **पृथ्वीराज रासो** के काव्य रूप का निर्णय करने में सहायता मिलेगी।

रासो, रासा, रास, रासउ समानार्थक शब्द हैं। इनका विकास रास नामक नृत्य से हुआ है। रास मूलतः वन्य नृत्य था। **हर्ष चरित** में रास का उल्लेख नृत्य और गान दोनों रूपों में हुआ है। अपभ्रंश के महान कवि स्वयंभु ने रास छंद का लक्षण दिया है। सो, रास नृत्य है, गान है और छंद भी। गान शब्दों से बनता है। एक बार शब्दों का आगमन हुआ तो कथा का समावेश हो गया और रास प्रबंध काव्य भी बन गया होगा। रास नृत्य से कृष्ण की रासलीला का संबंध है।

रास काव्यों की परंपरा अपभ्रंश से ही शुरू हो जाती है। मेरी जानकारी में प्राकृत भाषा में कोई रास काव्य नहीं मिलता। अपभ्रंश में **नेमिनाथ रासो, भरतेश्वर बाहुबलिरास, कछूलीरास** आदि मिलते हैं। प्रबंध काव्य हो जाने के बाद रास किसी एक ही विषय तक सीमित नहीं रह गया। यद्यपि यह सत्य है कि 11वीं शताब्दी से अपभ्रंश में रासोकाव्य की जो परम्परा प्रारंभ होती है उसमें जैन मतावलम्बी काव्य ही अधिक मिलते हैं। किंतु कालांतर में **रासो** ऐसा प्रबंध काव्य बन गया जो केवल धर्म या जैन धर्म तक ही सीमित नहीं रह गया। धार्मिक **रासो** के साथ-साथ, ऐतिहासिक, वीरतापरक, शृंगारी रासक काव्य भी लिखे गए। **पृथ्वीराज रासो** ऐतिहासिक एवं वीरतापरक **रासो** काव्य है।

आचार्य हेमचंद्र के शब्दानुशासन में रासक को गेय उपरूपक बताया गया है। "ये गेय रूपक तीन प्रकार के होते थे - मसृण अर्थात कोमल, उद्धत और मिश्र। रासक मिश्र गेय उपरूपक है। टीका में इन गेय उपरूपकों के संबंध में बताया गया है कि इनमें से कुछ तो स्पष्ट रूप से कोमल हैं, जैसे डोम्बिका। कुछ दूसरे हैं जो स्पष्ट रूप से उद्धत गेय रूपक हैं, जैसे भाणक। कुछ ऐसे हैं जिनमें मसृण की प्रधानता होती है, कुछ उद्धत भी मिल जाता है; कुछ में उद्धत कम मिला होता है, जैसे प्रस्थान; कुछ में अधिक मिला होता है जैसे शिंगटक। परंतु ऐसे भी कई हैं जिनका प्रधान रूप तो उद्धत होता है फिर भी थोड़ा बहुत मसृण का प्रवेश हो जाता है। भाणिका ऐसा ही है। फिर प्रेरण, रामाक्रीड़, रासक हल्लीसक आदि ऐसे ही रूपक हैं। सो रासक आरंभ में एक प्रकार के उद्धत प्रयोग प्रधान गेय रूपक को कहते थे जिसमें थोड़ा बहुत मसृण या कोमल प्रयोग भी मिले होते थे" (हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली 3)।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने **संदेशरासक** और **पृथ्वीराज रासो** के प्रारंभिक अंशों की समानता दिखाकर प्रकट किया है कि **पृथ्वीराज रासो** और **संदेशरासक** दोनों में रासक काव्य रूप के लक्षण मिलते हैं।

जो हो हिंदी साहित्य में **रासो** काव्यों की दीर्घ परंपरा मिलती है। डॉ. दशरथ ओझा ने अपने ग्रंथ 'हिंदी नाटकःउद्भव और विकास' में रासक काव्यों की चर्चा के प्रसंग में बताया है कि लगभग 1000 रासक काव्य मिलते हैं और इनकी रचना 19वीं शताब्दी तक हुई है।

1.4.2 कथानक रूढ़ियाँ

पृथ्वीराज रासो रासक काव्य परंपरा का सर्वाधिक विख्यात काव्य है। **पृथ्वीराज रासो** में मध्यकालीन प्रबंध काव्यों में प्रचलित अनेक कथानक रूढ़ियों का उपयोग किया गया है। कथानक-रूढ़ियों से अभिप्राय ऐसे घटना प्रसंगों से है जो कथानक को आगे बढ़ाने के लिए मध्यकालीन प्रबंध काव्यों में प्रायः इस्तेमाल किए जाते हैं। ऐसे घटना-प्रसंग एक प्रकार से इन प्रबंध रचनाओं में रूढ़ि की तरह प्रयुक्त होते हैं अतएव इन्हें कथानक रूढ़ि कहा जाता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इन कथानक रूढ़ियों पर 'हिंदी साहित्य का आदिकाल' में सम्यक् विचार किया है। आचार्य द्विवेदी ने जिन कथानक रूढ़ियों की सूची दी है उनमें कुछ इस प्रकार है-

1. कहानी कहने वाला सुग्गा
2. स्वप्न में प्रियदर्शन, चित्र-दर्शन, कीर्ति श्रवण से अनुराग
3. मुनि का शाप
4. रूप परिवर्तन
5. परकाय प्रवेश
6. आकाशवाणी
7. षड्ऋतु-बारहमासा
8. हंस-कपोत से संदेश कथन आदि।

रासो में - कहानी कहने वाला सुग्गा, गुण-श्रवण से अनुराग, रूप-परिवर्तन, षड्ऋतु वर्णन आदि तो हैं ही इनके अतिरिक्त, सेना-वर्णन, युद्ध वर्णन, नख-शिख वर्णन, कन्या हरण, वयस्संधि वर्णन आदि

कथानक रूढ़ियों का भी उपयोग किया गया है। कथानक रूढ़ियों के उपयोग की दृष्टि से पृथ्वीराज रासो एक भरपूर काव्य है।

1.4.3 चरित काव्य

अब तक हमने देखा कि पृथ्वीराज रासो आदिकाल की ऐसी रचना है जो मूलतः रासो काव्य है किंतु उसमें कथा, चरित, आख्यायिका आदि काव्य रूपों का भी समावेश है जिसमें कथानक रूढ़ियों का भरपूर उपयोग किया गया है।

डॉ. नित्यानंद तिवारी ने अपनी पुस्तक 'मध्यकालीन रोमांचक आख्यान' में दिखाया है कि पृथ्वीराज रासो रोमांचक आख्यान है। उसमें कथानक तो है किंतु उसमें आंतरिक गठन नहीं, उसमें अनेक परस्पर असंबद्ध कथाओं का संकलन और विस्तार है। कथाओं, घटनाओं का विकास आंतरिक घात-प्रतिघात से नहीं है, उनमें जोड़ और गांठें हैं। जोर कथनात्मकता या कहते जाने की की प्रवृत्ति पर है। चरित्र तो हैं किंतु इनकी चरित्रगत वैयक्तिक विशेषताएँ प्रायः नहीं हैं। संभवतः इसीलिए कथा के विकास के लिए कथानक रूढ़ियों की आवश्यकता पड़ती है। इन रोमांचक आख्यानों का कोई ऐतिहासिक उद्देश्य भी नहीं है। उद्देश्य होता तो इनका कथानक उद्देश्य की अंतस्सूत्रता से बंधा होता। डॉ. नित्यानंद तिवारी पृथ्वीराज रासो को 'पंवारा' मानते हैं।

इसमें कोई संदेह नहीं कि रासो की घटना-सरणि में, पृथ्वीराज के अनेक विवाहों और युद्धों में कोई तार्किक प्रवाह या अंतस्सूत्रता नहीं है। दो-चार विवाह और युद्ध रासो में और जोड़ दिए जाएँ या निकाल दिए जाएँ तो रासो के रूप पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

इस सबके बावजूद, हिंदी साहित्य में रासो की प्रतिष्ठा महाकाव्य के रूप में है। वह हिंदी साहित्य के आदिकाल का ही सर्वाधिक विख्यात काव्य नहीं, हिंदी साहित्य के प्रथम महाकाव्य के रूप में भी प्रतिष्ठित है। हमें उन कारणों की भी पड़ताल करनी चाहिए जिनके आधार पर पृथ्वीराज रासो को यह प्रतिष्ठा मिली।

डॉ. नगेन्द्र कामायनी के महाकाव्यत्व पर विचार करते हुए, पाश्चात्य एवं पौरस्त्य महाकाव्यों के लक्षणों का विवेचन करने के उपरांत इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि महाकाव्यत्व का प्राण औदात्य है। (देखिए कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ) । औदात्य का आधार व्यापक संघर्ष है। भारतीय महाकाव्यों का आदर्श वाल्मीकि रामायण है और राम का आजीवन संघर्ष उसके औदात्य का आधार है। वे लोक विख्यात हैं। उनकी जीवन-कथा ही ऐसी है कि विपुल जीवन-जगत् का समावेश उनके जीवन में हो जाता है। ध्यान से देखें तो महाकाव्यों के लक्षण इस बात को ही ध्यान में रखकर निर्धारित किए गए हैं कि नायक लोक में कितना प्रतिष्ठित है, लोक से उसके जीवन-संघर्ष का कैसा संबंध है। कहने का तात्पर्य यह है कि व्यापकता एवं संघर्ष औदात्य के आधार हैं। आठ या उससे अधिक सर्गों की व्यवस्था कथा की विपुलता का लक्षण है तो एक सर्ग में एक ही छंद की व्यवस्था दूर तक कथा प्रवाह की समतल भूमि निर्धारित करती है। सर्ग के अंत में छंद परिवर्तन एक सर्ग की कथा को अगले सर्ग की कथा से जोड़ने का संकेत है।

मध्यकाल में ऐसे प्रबंधकाव्य भी लिखे गए हैं जिनमें कदम-कदम पर छंद परिवर्तित होते हैं। केशवदास की रामचन्द्रिका, विद्यापति की कीर्तिलता ऐसे ही काव्य हैं। आदिकाल के ही अपभ्रंश काव्य संदेश रासक में भी जल्दी-जल्दी छंद परिवर्तन मिलता है। पृथ्वीराज रासो भी इस दृष्टि से इन्हीं रचनाओं की कोटि में आता है।

1.5 सारांश

पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिता-अप्रामाणिकता से जुड़े विभिन्न पहलुओं पर विचार करने के क्रम में आपने महसूस किया होगा कि इसे काव्य ग्रंथ मानकर चलना ही उचित है। किसी भी दृष्टि से यह इतिहास ग्रंथ नहीं है। परंतु इसमें कोई शक नहीं कि चंदवरदाई पृथ्वीराज के समकालीन थे और उन्होंने पृथ्वीराज रासो नामक चरित काव्य की रचना की।

यह भी स्मरण रखने की बात है कि विद्वानों ने इसके लघुतम पाठ को ही मूल पाठ माना है। प्रश्न यह है कि जो काव्य मूलतः लघु काव्य था और जिसे पंवारा कहा जाता है वह इतना बृहत् एवं महाकाव्य कैसे बन गया। आदिकाल की अन्य रचनाओं को पीछे धकेल कर सर्वाधिक विख्यात कैसे हो गया।

उत्तर संभवतः साहित्य से अधिक उत्तरी भारत के राजनीतिक घटना-चक्र अर्थात इतिहास में है। निस्संदेह साहित्यिक दृष्टि से **पृथ्वीराज रासो** उत्कृष्ट रचना है और चंदवरदाई सरस्वती के वरद-पुत्र हैं। किंतु इस रचना को इतिहास चक्र ने जो महत्त्व प्रदान किया उसका इसे महाकाव्य के रूप में प्रतिष्ठित करने में बहुत बड़ा योगदान है ।

पृथ्वीराज चौहान दिल्ली के सिहांसन पर विराजमान होने वाले अंतिम हिंदू शासक थे। उनका जीवन अपने-आप में चाहे ज़ितना सामान्य रहा हो, उत्तरी भारत के इतिहास में मुहम्मद गोरी के हाथों उनकी पराजय और उनका वध युगांत का प्रतीक बन गया। कन्या हरण और युद्ध आदिकालीन वीर गाथात्मक रचनाओं का प्रिय विषय है किंतु उन सभी रचनाओं के नायक पृथ्वीराज चौहान की तरह युगांत के प्रतीक-नायक नहीं बने। उत्तरी भारत की जनता के मन में ऐतिहासिक कारणों से अपने अंतिम शासक के लिए एक ललक बनी रही। इसके बाद दिल्ली के सिहांसन पर आक्रामक या उनकी संतानें बैठीं। इस ऐतिहासिक ललक ने पृथ्वीराज चौहान के जीवन को अभूतपूर्व ख्याति प्रदान की। वे जन समाज में व्याप्त होने वाली किम्वदंतियों, निजंधरी कथाओं के विषय बने, नायक बने। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कथानक रूढ़ियों पर विचार करते हुए 'हिंदी साहित्य का आदिकाल' में बताया है कि तथ्य की अपेक्षा संभावना पर अधिक बल देने से कवि नायक को निजंधरी (लेजेंडरी) बना देते हैं। यह मनोवृत्ति वस्तुतः भारतीय जन-मानस की है जो अपने नायक को आत्यन्तिकता प्रदान करता है। निरंतर प्रक्षेप इसी का परिणाम है। लोग वीरनायक को विविध रूपों में देखना चाहते हैं, उनके जीवन में संभावनाओं को अधिक से अधिक फलीभूत होते देखना चाहते हैं। **पृथ्वीराज रासो** जितना अधिक प्रक्षेप हिंदी की किसी अन्य रचना में नहीं हुआ है। इसे प्रसिद्धि का मूल्य चुकाना कह सकते हैं। लोक विख्यात शौर्य गाथाओं, रोमांचक गाथाओं के विषय में ऐसी जनश्रुतियों की व्यापकता स्वाभाविक है। हमारे स्वाधीनता संग्राम के सेनानियों के विषय में भी ऐसी किम्वदंतियाँ जन-प्रचलित थीं। इसी प्रवृत्ति का काव्य-फलन **रासो** का महाकाव्य है। आचार्य द्विवेदी के शब्दों में वह लोकचित्त की चंचल सवारी करता हुआ विकासशील महाकाव्य बना। हिदी का दूसरा विकसनशील महाकाव्य **परमाल रासो** या **आल्हा** होता अगर वह लिखित रूप में प्राप्त होता।

नायक का महत्व युगांतरकारी हो गया और लोकप्रियता के कारण प्रक्षेप होता गया तो रचना को भी महाकाव्यात्मक गरिमा प्राप्त हुई। वह अपने युग एवं युग नायक की गाथा बनकर जातीय अथवा राष्ट्रीय इतिहास की प्रबल रचना बन गई। अगली इकाई (इकाई सं.-२) में इसकी विस्तार से चर्चा की जाएगी।

इस प्रकार जो **रासो** काव्य चरित, कथा, आख्यायिका आदि के लक्षणों से युक्त एक पंवारा मात्र था वह ऐतिहासिक घटना चक्र से विकासशील प्रबंधकाव्य तो बना ही, महाकाव्यात्मक औदात्य एवं गरिमा से मंडित होकर आदिकाल का सर्वाधिक प्रसिद्ध और हिंदी साहित्य का प्रथम महाकाव्य कहलाने का अधिकारी बना।

1.6 प्रश्न/अभ्यास

1. पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता-अप्रामाणिता से जुड़े विभिन्न मुद्दों का विश्लेषण कीजिए।
2. पृथ्वीराज रासो में कथानक रूढ़ियों का उपयोग किस प्रकार किया गया है?
3. क्या पृथ्वीराज रासो की भाषा अपने रचनाकाल से मेल खाती है? विभिन्न मतों के आलोक में इस पर विचार कीजिए।
4. पृथ्वीराज रासो की लोकप्रियता में साहित्यिक और साहित्येतर परम्पराओं के योगदान को रेखांकित कीजिए।

इकाई 2 पृथ्वीराज रासो का काव्यत्व

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य
2.1 प्रस्तावना
2.2 विषय वस्तु
  2.2.1 कथानक
  2.2.2 युद्ध और शृंगार
  2.2.3 पात्र चित्रण
  2.2.4 प्रकृति वर्णन
2.3 काव्य कौशल
  2.3.1 छंद
  2.3.2 अनुनासिकता
  2.3.3 ध्वनि प्रवाह
2.4 सारांश
2.5 अभ्यास/प्रश्न

2.0 उद्देश्य

पिछली इकाई में **पृथ्वीराज रासो** की प्रामाणिकता, भाषा और काव्य रूप पर विचार किया जा चुका है। इस इकाई में **पृथ्वीराज रासो** के काव्यत्व पर विचार किया जा रहा है। इसे पढ़ने के बाद आपः

- **पृथ्वीराज रासो** की विषय वस्तु का मूल्यांकन कर सकेंगे
- रासोकार कवि चंद के काव्य कौशल का विवेचन कर सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में हमने पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता से जुड़े सवालों पर विचार विमर्श किया था। इस संदर्भ में पृथ्वीराज रासो की ऐतिहासिकता, रचनाकार, मूल पाठ, भाषा, काव्य रूप आदि पक्षों को आप समझ चुके होंगे।

जैसा कि आप जानते हैं पृथ्वीराज रासो के अनेक संस्करण प्राप्त होते हैं। यहाँ रासो के काव्य–सौंदर्य पर विचार करते समय दो पाठों को आधार बनाया जा रहा है- हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा शुक-शुकी संवाद को ध्यान में रखकर निर्धारित पाठ तथा माता प्रसाद गुप्त द्वारा उक्ति-शृंखला एवं छंद-शृंखला के आधार पर निर्णीत पाठ।

इस इकाई में हमने सबसे पहले आपका परिचय पृथ्वीराज रासो की विषय वस्तु से कराया है। कथानक का परिचय देते हुए साथ-साथ उसका मूल्यांकन भी प्रस्तुत किया गया है। कथा विस्तार से प्रस्तुत नहीं की गई है संक्षेप में उसका उल्लेख कर दिया गया है। यदि आप पृथ्वीराज रासो की कथा और विस्तार से पढ़ना चाहते हैं तो आप डॉ. नामवर सिंह की पुस्तक "पृथ्वीराज रासो भाषा और साहित्य" परिशिष्ट पढ़िए। इस पुस्तक की पूरी जानकारी खंड के अंत में दी गई पुस्तकों की सूची में मिल जाएगी।

कथानक के अंतर्गत हमने 'कैमास वध' और 'कनवज्ज समय' का विशेष रूप से उल्लेख किया है और उनकी विशेषताओं की चर्चा की है। मार्मिकता की दृष्टि से कैमास वध प्रसंग महत्वपूर्ण है। कैमास प्रसंग को प्रामाणिक अंश भी माना जाता है क्योंकि इसी प्रसंग के छप्पय पुरातन प्रबंध संग्रह में प्राप्त हुए हैं।

'कनवज्ज समय' रासो का एक महत्वपूर्ण अंश है। इसमें जयचंद की कन्नौज यात्रा और संयोगिता के अपहरण की कथा आई है। इस प्रसंग में कवि ने शृंगार, युद्ध और यहाँ तक कि प्रकृति वर्णन का भी अवसर निकाल लिया है। 'कनवज्ज समय' को पाठ में भी शामिल किया गया है।

पृथ्वीराज रासो के शिल्प पर विचार न किया जाए तो बात अधूरी रह जाएगी। चंद को छंद का राजा कहा गया है। उन्होंने कविता में संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश से चली आती छंद परंपरा को नई चाल में ढाला और हिंदी में छंद-संगीत का सूत्रपात किया। उनकी कविता में अनुनासिकता, ध्वनि-प्रवाह, लय सब मिलकर संगीत का निर्माण करते हैं। उनका अभिव्यक्ति कौशल अनूठा है।

आइए, इन पक्षों पर विस्तार से बातचीत की जाए।

2.2 विषय वस्तु

पृथ्वीराज रासो के काव्य-सौंदर्य पर विचार करने के लिए हमें एकाधिक पाठों को आधार बनाना पड़ेगा। **रासो** के मूल रूप पर विचार करते समय हमने दो पाठों का विशेष रूप से उल्लेख किया था - पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा शुक-शुकी के संवाद को ध्यान में रखकर निर्धारित पाठ और डॉ. माता प्रसाद गुप्त द्वारा उक्ति-शृंखला एवं छंद-शृंखला के आधार पर निर्णीत पाठ।

इसके बावजूद **पृथ्वीराज रासो** में जो प्रसंग सामान्य रूप से मिलते हैं वे इस प्रकार हैं :

1. आदि पर्व
2. दिल्ली किल्ली कथा
3. अनंगपाल दिल्ली दान
4. पंग यज्ञ विध्वंस
5. संयोगिता नेम आचरण
6. कैमास वध
7. षटऋतु वर्णन
8. कनवज्ज समय
9. बड़ी लड़ाई
10. बान बंध

इस इकाई में हम 'कैमास वध' और 'कनवज्ज समय' पर विशेष रूप से विचार करेंगे।
पृथ्वीराज रासो एक चरित काव्य है जिसका नायक पृथ्वीराज चौहान है। **पृथ्वीराज रासो** में अधिकांशतः पृथ्वीराज के विभिन्न विवाहों एवं युद्धों की ही कथा है। **आदि पर्व** में पृथ्वीराज के पूर्वजों, पृथ्वीराज के जन्म, बाल-लीला आदि का वर्णन है। **रासो** के अंतिम अंश में पृथ्वीराज द्वारा गोरी का, शब्दबेधी बाण द्वारा वध का वर्णन है। साथ ही पृथ्वीराज की भी मृत्यु हो गई।

2.2.1 कथानक

रासो का कथानक मध्यकाल में प्रचलित अनेक कथानक रूढ़ियों एवं काव्य रूढ़ियों से कसा हुआ है। कवि परंपरा से सुपरिचित है, उसका पालन करना और मौलिक उद्भावना द्वारा विकास करने की प्रतिभा से सम्पन्न है।

मध्यकालीन प्रबंध काव्यों के पात्र प्रायः सांचे में ढले होते हैं। वे अच्छे हैं तो अच्छे, बुरे हैं तो बुरे। इस स्थिति में रासोकार का चरित्र-चित्रण सुखद आश्चर्य का विषय है। पृथ्वीराज कोई सांचे-ढला पात्र नहीं, वह अच्छाइयों एवं कमजोरियों का पुंज है। आज की भाषा में कहें तो पृथ्वीराज यथार्थवादी पात्र है - बहुत दूर तक। निस्संदेह उसके चरित्र-निर्माण पर मध्यकालीन प्रबंध काव्यों के आदर्शवाद की भी छाप है।

पृथ्वीराज क्षत्रिय, सामन्त, वीर, रसिक, विलासी, दृढ़ प्रतिज्ञ, शरणागत-वत्सल और चन्द का अभिन्न मित्र है। उसे अपने गुणों एवं दुर्गुणों का फल इसी जीवन में मिल जाता है।

रासो में वर्णित घटनाओं की ऐतिहासिकता के विषय में चाहे जितना मतभेद हो, घटनाओं के उपस्थापन का शिल्प यथार्थ-परक है, कारण यह कि उसमें पृथ्वीराज के मन का द्वंद्व छिपाया नहीं गया है। उसे प्रकट कर दिया गया है। **रासो** के **आदि पर्व** में एक ऐसी घटना का वर्णन है जो पृथ्वीराज कालीन सामंती मूल्यों का मनोरंजक दस्तावेज़ मालूम पड़ता है। पृथ्वीराज के पराक्रमी चाचा कन्ह थे।

चालुक्यवंशी सात भाई पृथ्वीराज के दरबार में बैठे थे। पृथ्वीराज की उन पर कृपा थी। एक दिन भरे दरबार में उनमें से एक भाई प्रतापसी ने मूंछों पर हाथ फेर दिया:

परताप सि मुच्छन पान

यानी मूंछों पर ताव दे दिया। अपनी मूंछे ऐठ ली। उनका यह करना था कि कन्ह चाचा ने उसे मौत के घाट उतार दिया। उसे ही नहीं उसके भाइयों को भी। पृथ्वीराज धर्म-संकट में पड़ गए। जिसकी रक्षा का भार लिया था उन्हीं का वध किया गया। यह किसी और ने किया होता तो पृथ्वीराज उसे प्राण दंड देते। लेकिन कन्ह चाचा का क्या किया जाए। अंततोगत्वा विधान हुआ कि कन्ह चाचा की आंखों पर रत्न स्वर्णादि की पट्टी बांध दी गई। आंखों से पट्टी केवल दो अवसरों पर उतारी जाए - युद्ध क्षेत्र में और शय्या पर :

सो पट्टी निसि दिन रहै छोरि देइ द्वै ठाय
कै सिज्जा बामा रमत कै छुट्ट संग्राम

कवि ने पृथ्वीराज के चरित्र का जो चित्रण किया है वह उतना आदर्श-कल्पित नहीं है जितना कि यथार्थ परक। चन्द द्वारा पृथ्वीराज के चरित्र का चित्रण देखें तो वह सचमुच किसी निर्भीक सरस्वती के वरद-पुत्र का वर्णन प्रतीत होता है। यह भी कि चंद पृथ्वीराज का सच्चा मित्र एवं शुभ चिंतक है। इससे पृथ्वीराज के साथ-साथ चंदवरदाई के भी चरित्र का चित्रण हो गया है। दोनों मित्रों की मैत्री-परीक्षा का सबसे मार्मिक अवसर कैमास-वध में उपस्थित होता है। ध्यान देने की बात है कि कैमास-वध **पृथ्वीराज रासो** का सर्वाधिक प्रामाणिक अंश है। इसी प्रसंग के छप्पय पुरातन-प्रबंध-संग्रह में प्राप्त हुए हैं, यह हम **रासो** की प्रामाणिकता पर विचार करते समय देख चुके हैं।

कैमास (संस्कृत नाम कदम्बवास) पृथ्वीराज का प्रधानामात्य और सर्वाधिक विश्वस्त मंत्री था। पृथ्वीराज के बचपन में उनकी माँ ने उसी की देख-रेख में राजकाज चलाया था। पृथ्वीराज संयोगिता के विरह में स्थिर नहीं था। वह आखेट करता हुआ वन में घूम रहा था। शासन उसने कैमास को सौंप दिया था।

तिहि तप आखेटक भअइ थिर न रहइ चहुवान
वर प्रधान जुग्गुनि प्ररह घर रख्खइ परवान

इधर कैमास की बुद्धि धर्म-क्षीण हो गई। जो राजा की प्रतिमा (प्रतिनिधि) है उसका मन रमणियों में रम गया। उसके हाथ में तीर नहीं - वह वासना में शय्या गति को प्राप्त होने लगा।

राजं जा प्रतिभा सचीन धर्मा रामा रमे सा मतीन
नितीरे कर काम वाम बसना संगेन सिज्जा गतिः

कैमास कर्णाटी नाम की दासी पर अनुरक्त था। रात्रि में वह उसके महल में विहार कर रहा था। पृथ्वीराज को यह समाचार उनकी बड़ी रानी इंछिनी ने भिजवाया। पृथ्वीराज ने रात में ही आकर कैमास की हत्या कर दी। प्रातः भरे दरबार में अनजान बन कर पूछा - कैमास कहाँ है? किसी ने कोई उत्तर नहीं दिया। पृथ्वीराज ने चन्दवरदाई से पूछा। चन्दवरदाई ने उत्तर दिया - मैं पाताल और आकाश के बीच का सब रहस्य बता सकता हूँ। किंतु दाहिम (कैमास) दुर्लभ हो गया है, मुझसे कहा नहीं जाता। पृथ्वीराज ने चंद से कहा - तुम क्या आकाश-पाताल की बातें कर रहे हो यह तो बताओ कि कैमास कहाँ है या मुझे हरसिद्धि (देवी) का वर प्राप्त है यह कहना छोड़ दो। निकम्मे कवि काव्य रचना बंद कर दो-

कहा भजुंग कहा उदै सुर निकमु कब्ब कवि षंडु
कै कैमास बताइ मोहि कइ हरसिद्धी बर छंडु।

चंद ने सोचा पृथ्वीराज साँप के मुंह में उंगुली डाल रहा है अब मुझे सच बताना ही पडेगा। चंदवरदाई को स्वप्न में सरस्वती ने आकर सब बता दिया था। **चंद की काव्यधारा प्रवाहित हो उठी-**

एकु बान पुहुमी नरेस कयमासह मुक्कउ
उर उप्परि षर हरि उबीर कष्षन्तर चुक्कउ
बीउ बान संधानि हनउ सोमेसुर नंदन
गाडउ करि निग्गहउ षनिव खोदउ संभरि धनि
थर छंडि न जाइ अभाग रउ गारइ गहउ जु गुन षरउ
इमे जपइ चंद बिरद्दआ सु कहो निमद्दि हि इह प्रलउ।

चंद ने कैमास-वध का अन्तर्बाह्य विवरण देते हुए बताया - पृथ्वी नरेश तुमने एक बाण कैमास को मारा। वह उसके वक्ष पर खरहराता हुआ काँख से चूक गया (निकल गया) दूसरे बाण का संधान करके तुमने उसे मार डाला। शाकम्भरी नरेश पृथ्वीराज तुमने खन खोद कर गड्ढे में उसे डाल दिया। अब उस अभागे से वह थल छोड़ा नहीं जा रहा। उसे गुण रूपी पाषाण ने दृढ़ता से पकड़ रखा है। चंदवरदाई कहता है कि यह प्रलय कहाँ निपटेगा। तुम्हारे इस अकार्य का क्या फल होगा?

मध्यकालीन सामन्त निरंकुश होता था। पृथ्वीराज के एक इशारे पर चंद का क्या हो सकता था - यह सोचिए, तब अनुमान किया जा सकता है कि चंदवरदाई कितने निर्भीक सरस्वती-पुत्र थे। वे कवि की मर्यादा का निर्वाह कर सकते थे। चंदवरदाई का उत्तर सुनकर सभा में खलबली मच गई। अपने कानों से चंद का बयान सुनकर सभासद अपने घर भाग गए। पृथ्वीराज को रात भर नींद नहीं आयी। चंदवरदाई ने उस समय की सभा का जो वर्णन किया है वह मध्यकाल में दुर्लभ है। यथार्थपरकता और चंद की निर्भीकता दोनों का प्रमाण इस वर्णन में है-

राज-सभा में सम्भ्रम हुआ। उसे शांत करने के लिए प्रधान दरबान ने प्रवेश किया। सभी सामन्तों के सिर पर मानो लाठी लगी। केवल चंद बरद्अा स्थिर रहा। वह विमुख नहीं हुआ। मुख नहीं मोड़ा, पैर नहीं सरकाया। मुख क्रोध से यूं सूख रहा था मानों ग्रीष्म में सूर्य के तेज से जल रात के पति के जगते (चन्द्रमा के अस्त होने के पूर्व) घर-घर में यह बात फैल गई कि दाहिम (कैमास) को ऐसा दोष लगा है कि कलंक नहीं मिटेगा।

राजमज्झि संभयउ फट्ट दरबान परद्ठि
बहुर सब्ब सामंत मनउ लग्गिय सिरं लट्ठिय
रहयउ चंद बिरदिया विमुष मुख पग न सरक्यउ
गिम्ह तेज बर भट्ट रोस जल षिनि षिनि सुक्यउ
रत्तिरी कंत जग्गंत रइ चली घर घ्घरि बत्तरी
देहिमउ दोस लग्यउ षरउ मिटइ न कलि सु उत्तरी

चंद की निर्भीकता एवं चारित्र्य-दृढ़ता का प्रमाण **रासो** में तब मिलता है जब कैमास की पत्नी को वचन देकर वे पृथ्वीराज से कैमास का शव उसे देने को कहते हैं। कैमास की पत्नी सती होना चाहती थी और कैमास का शव केवल पृथ्वीराज ही उसे दे सकते थे। चंदवरदाई कुपित पृथ्वीराज के दरबार में पहुँचे। बोले- पृथ्वीराज! तुम्हारी कीर्ति के कमल को कैमास वध ने कवलित कर लिया है। तुम उसका शव दे दो। इसके बाद चंदवरदाई ने जो कुछ कहा वह द्रष्टव्य है-

रावण ने भी पराई स्त्री का हरण किया था। क्रुद्ध राम ने उसे बाण से मारा (किंतु उसका शव नहीं छिपाया था) इसी प्रकार बाली का सुग्रीव ने प्राण लिया। चंद्रमा ने गुरु पत्नी से रमण किया किंतु उसके शव को पृथ्वी में किसने गाड़ा। पांडु ने सूर्य को नहीं गाड़ा (कुंती के साथ रमण करने के अपराध में) सहदेव से पूछ लो। गौतम ने इन्द्र को नहीं गाड़ा। हाँ शाप अवश्य दिया। इस दोष पर इतना रोष करना (अनुचित) है। सुनो सामरधनी। (कैमास को) मत गाड़ो।

रावन किनि गड्डियउ क्रोध रघुराय बान दिनि
बालि किनि गड्डियउ सुत सुग्रीव जीव लिय
चंद किनि गड्डियउ कीय गुरुदार सो किल्लउ
रवि न पंउ गड्डियउ पुच्छ सहदेंव पहिल्लउ
गड्डियउ न इंदु गोतम रिषी बल सराप छंडिय जिनी
इह रोस दोस पृथिराज सुन मम गड्डिय सम्भर धनी

अन्ततोगत्वा पृथ्वीराज ने कैमास का शव कैमास की पत्नी को सौंप दिया। वह सती हुई। इस मनमुटाव के बाद पृथ्वीराज और चंदवरदाई गले मिले। इस मित्र-मिलन का जैसा मार्मिक चित्रण कवि ने किया है वह अनुपम है।

दोइ कंठ लग्गिय गहन नयनह जल गल न्हाम
(दोनों गहन भाव से कंठ लगे। नयनों के जल से भीग कर स्नान किया)

पृथ्वीराज की वीरता का चित्रण प्रायः युद्ध के प्रत्येक प्रसंग में हुआ है। पृथ्वीराज की वीरता सामंती नैतिकता से पुष्ट है। संयोगिता विवाह के अवसर पर कनउज्ज-युद्ध में विश्वस्त सेनापतियों ने पृथ्वीराज को संयोगिता सहित दिल्ली पहुँच जाने की राय दी। पृथ्वीराज जैसा शूरवीर इसे सहन नहीं कर सका। उसने अपने सेनापतियों को उत्तर दिया-

मुझे मरण का भय दिखा रहे हो। तुम्हारी बुद्धि नष्ट हो गई है। तुम जो मुझे मृत्यु का भय दिखा रहे हो क्या वह यम की चिट्ठी के बिना संभव है। तुमने भीम को हराया इसी का तुम्हें गर्व हो गया है। मैंने शहाबुद्दीन गोरी जैसे को हराया है। हिंदू और तुरूक दोनों मेरे शरणागत हैं उसे तुम शरणागत करना चाहते हो। तुम शूर-सामंत बूझ नहीं रहे हो। मेरे ऊपर इतना बड़ा बोझ मत रखो।

पृथ्वीराज की इस उक्ति में उसकी अकुतोभयता, दर्प, पराक्रम, औदात्य, शूर-सामंतों से आत्म भाव सब कुछ झलक रहा है। हिंदू-तुरूक दोनों मेरी शरण में हैं के कथन से शासक-योद्धा के रूप में हिंदू तुरक दोनों पर उसका समान भाव भी व्यंजित हो रहा है।

ऐसा कथन पृथ्वीराज चौहान के वीरत्व की प्रतिष्ठा करता है।

शूर-सामन्त होने के साथ पृथ्वीराज विलासी भी है। राजकुमारियों के सौंदर्य का वर्णन सुनकर वह पूर्व राग से विह्वल हो उठता है। वस्तुतः उसकी विलासिता ही उसके पराभव का - उसी के क्यों पूरी जाति के पराभव का कारण है। चंद ने पृथ्वीराज के दोषों को छिपाया नहीं है। कैमास-वध के प्रसंग में हम इसे देख चुके हैं। संयोगिता के साथ केलि-विलास के वर्णन में कवि ने स्पष्ट शब्दों में लिखा कि *संयोगिता की प्रौढ़ रति में निमग्न वह नहीं जान पाता था कि कब रात हुई कब दिन हुआ। गुरु, बंधुओं, भृत्यों, लोगों- सब की गति (राय) उसके विपरीत हो गई-*

अह निसि सुध्धि न जानहि माननि प्रौढ़ रति
गुरु बंधव, भृत, लोइ भई विपरीत गति

पृथ्वीराज-चंदवरदाई का साथ कृति में प्रायः सर्वत्र है। जब जब पृथ्वीराज पर कोई संकट पड़ता है या वह सन्मार्ग से विचलित होता है, चंदवरदाई उसे निर्भीक सलाह देता है, सच्चे शुभचिंतक मित्र की भांति। मध्यकाल के वातावरण में चन्दवरदाई का ऐसा दीप्त चरित्र अद्वितीय है। इस प्रसंग में सर्वाधिक मार्मिक एवं करुण स्थिति उस समय दिखलाई पड़ती है जब ग़जनी के कारागार में अंधे पृथ्वीराज की भेंट चंदवरदाई से होती है। डॉ. नामवर सिंह ने **रासो** के इस प्रसंग की मार्मिकता पर विचार करते हुए लिखा है-

... वह प्रसंग कितना मार्मिक है जब अंधा नरेश अपने प्रिय सहचर चंद का स्वर सुनता है। पहले वह पहचान नहीं पाता। फिर थोड़ी देर बाद स्वर के सहारे पहचान लेता है। उल्लास होता है, लेकिन फिर न जाने कितने भाव मन में उठते हैं। शायद यह कि आज इस विरुद के उपलक्ष्य में पहले की तरह पुरस्कार देने के लिए मेरे पास कुछ नहीं है। शायद यह कि आज यह विरुद व्यंग्य की तरह चुभता है, शायद यह कि अपना यह विपन्न रूप चंद को दिखाने के लिए मैं क्यों जीवित हूँ, शायद यह कि डूबते को तिनके का सहारा मिला और बहुत दिनों के बाद परदेश में स्वजन का स्वर सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। पृथ्वीराज कुछ नहीं बोलता; केवल -

नेहनीर रुकि कंठ कवि, नैन भाल झलझ्झल पानि।
बिन बोलत बोल्यो नृपति चंद चिंति बरबानि।।

(पृथ्वीराज रासो भाषा और साहित्य)

यहाँ 'बिन बोलत बोल्यो नृपति, वह सब कुछ कह देता है जो राजा के मन में है। पृथ्वीराज ही नहीं चंद के मन की व्यथा भी वह प्रकट कर देता है। अनुभूति की असीमता को शब्दों का अपव्यय नहीं मौन एवं शब्द संयम व्यंजित करता है। कबीर, तुलसी, सूर निराला की भाँति चंदवरदाई भी इसे जानते थे इसी-लिए सर्वाधिक मार्मिक प्रसंग में शब्दों का नहीं मौन का उपयोग किया-

बिन बोलत बोल्यो नृपति

कनवज्ज समय

रासो का एक महत्वपूर्ण अंश है **कनवज्ज-समय**। पृथ्वीराज चौहान और जयचंद में वैर था। कन्नौज जयचंद की राजधानी थी। जयचंद अपने समय में उत्तरी भारत का सम्भवतः सबसे बड़ा शासक था। उसकी उपाधि दल पंगुर थी। 'दल पंगुर' अर्थात ऐसा नरेश जिसकी सेना इतनी विशाल हो कि उसे प्रयाण न करना पड़े। जहाँ आक्रमण करना हो वहाँ तक सेना ही रहे, यानी जिसकी सेना चलती न हो, पंगु हो।

किंतु पृथ्वीराज किसी से नहीं दबता था। उसने सुना कि जयचंद ने राजसूय यज्ञ किया जिसमें उसने पृथ्वीराज की प्रतिमा यज्ञ-सभा के द्वार पर स्थापित कर दी। जयचंद की पुत्री संयोगिता ने पृथ्वीराज के रूप-पराक्रम की गाथा सुन रखी थी। उसने जयमाल पृथ्वीराज के गले में डाल दी। जयचंद ने यह सुना तो उसे क्रोध हुआ और उसने अनेक दासियों के साथ संयोगिता को गंगा तट पर स्थित एक महल में रहने की व्यवस्था करा दी।

पृथ्वीराज यह समाचार सुनकर अपमान से दग्ध हो उठा। साथ ही साथ उसके हृदय में संयोगिता के प्रति अनुराग का भाव भी अंकुरित हुआ। चंदवरदाई को साथ लेकर वह कन्नौज जाने के लिए उद्यत हुआ। यहाँ कवि ने कौशल से षड्ऋतु वर्णन का अवसर निकाल लिया है।

पृथ्वीराज एक एक करके अपनी रानियों से कन्नौज जाने की आज्ञा माँगता है। प्रत्येक रानी उसे एक ऋतु भर रोक लेती है। अनिवार्यतः यह संख्या छह होनी थी। क्योंकि ऋतुएँ छह ही होती हैं। पृथ्वीराज सबसे पहले बड़ी रानी इंछिनी के पास जाते हैं। इंछिनी क्या उत्तर दे। उत्तर और प्राण दोनों कंठ में एक साथ आ गए। कंठावरोध हो गया-

प्रान ज्वाब दोनों चलै आन अटवकै कंठ

ऋतु वसंत की थी। बड़ी रानी इंछिनी ने कहा आम की मंजरी आ गई है, कदम्ब फूले हैं, रातें दीर्घ हैं। भ्रमर मकरंद पान में मग्न भ्रमित होकर इधर उधर गुंजार रहे हैं। वायु बहती हुई विरहाग्नि का ताप दे रही है। कोकिल कुहू कुहू बोलकर रति की आग लगा रही है। हे नाथ! पैरों पड़ती हुई विनती करती हूँ। मेरे प्रति स्नेह का भाव धारण करो; यौवन का काल दिनों दिन घट रहा है, वसंत में गमन मत करो

मवरि अंब फुल्लिग कदंब रजनी दिघ दीसं।
भवर भाव भुल्ले भ्रमंत मकरंदय सीसं॥
बहत बात प्रज्जलति मौर अति विरह अगिन किय।
कुह कुहंत कल कंठ पत्र राषस रति अग्गिय॥
पय लग्गि प्रान पति बीनवौं नाह नेह मुझ चित धरहु।
दिन दिन अवद्धि जुटवन घटिय कंत वंसत गम करहु॥

इसी प्रकार उन्हें प्रत्येक रानी एक एक ऋतु में रोक लेती है। अब पृथ्वीराज गमन करें तो कैसे। कहीं भी जाएंगे कोई न कोई ऋतु तो होगी ही। ऐसे संकट से उन्हें चंदवरदाई ही उबार सकते थे। चंदवरदाई ने 'रितु' को ही इससे उबरने का रास्ता भी बना दिया। ऋतु शब्द का उपयोग स्त्रियों के मासिक धर्म की स्थिति के लिए भी होता है। चंद ने रास्ता सुझाया

रोष भरै उर कामिनी, होइ मलिन सिर अंग।
उहि रिति त्रिय न मावई सुनि चुहान चतुरंग॥

कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रत्येक रानी से कन्नौज जाने की आज्ञा लेना षड्ऋतु वर्णन का बहाना है। कवि किसी न किसी छल से षड्ऋतु वर्णन की कथानक रूढ़ि का निर्वाह करना चाहते हैं।

रासो के अनुसार संवत् ग्यारह सौ एक्कानवे में चैत की तृतीया को रविवार के दिन पृथ्वीराज ने कन्नौज की ओर प्रयाण किया। रास्ते में कालिन्दी (यमुना) मिली। शुभ शकुन हुए। आगे चल कर गंगा पड़ती है। कवि गंगा की स्तुति त्रिभंगी छंद में करता है। प्रातः काल कन्नौज नगर दिखाई पड़ा। कवि को यहाँ उद्यान वर्णन एवं नगर वर्णन की कथानक रूढ़ि के पालन का अवसर मिलता है।

चंद पहले उद्यान का वर्णन करते हैं। उसमें नाम परिगणन भी है और अनूठा सादृश्य-विधान भी। उद्यान-वर्णन के उपरान्त नगर वर्णन है। कन्नौज में रत्नों, मोतियों, मणियों की दूकानें हैं। नाके-नाके पर तमोली हैं, पान खाकर थूकने से कीचड़ सा हो गया है। कवि कहता है कि नगर वर्णन करने लगूंगा तो बहुत देर हो जाएगी इसलिए जयचंद के द्वार चलें। पृथ्वीराज एवं चंद को हज़म (कोतवाल) मिलता है जो उन्हें दरबार में पहुंचाता है। जयचंद को देखकर चंद अपने हाथ उठाकर उन्हें आशीर्वाद देता है। इसके पश्चात जयचंद और कवि का संवाद मनोरंजक एवं विदग्धतापूर्ण है। जयचंद कवि चंद के बरदिया उपाधि पर श्लेष-व्यंग्य (बरदाई और बरध बैल) करता हुआ पूछता है-

मुह दरिद्र अरु तुच्छ तन जंगल राव सु हद।
बन उजार पसु तन चरन, क्यों दूबरो बरद॥

मुख मंडल से दारिद्रय टपकता है, शरीर क्षीण है जंगल की सीमा पर रोक है? वन उजड़ गया है पशु चर नहीं पाता। क्या कारण है कि बर्द (बैल - बरद्दिया) दुबला है?

चंद ने उत्तर दिया-

पृथ्वीराज ने दुष्ट शत्रुओं को पराजित किया। वे वन में पले, डाल, मूल, वृक्ष पकड़ कर छिप गए। अनेक दातों में तिनके दूब रखकर चौहान की शरण में गए। इससे पत्तों दूबों की कमी पड़ गई और वर्द दुबला हो गया- आदि

जयचंद ने पृथ्वीराज के विषय में प्रश्न किया - वह कैसा है, उसकी सेना कितनी बड़ी है। चंद ने पृथ्वीराज की उम्र बताई- बरस तीस छह अग्गरौ- छः वर्ष आगे तीस यानी छत्तीस। इसी बीच दरबार में एक नाटकीय घटना घटी। पृथ्वीराज की एक दासी जयचंद के यहाँ रहने लगी थी। वह केश खोले रहती थी। किंतु पृथ्वीराज को देखते ही उसने सिर ढांक लिया। जयचंद को शंका हुई कि यह व्यक्ति पृथ्वीराज तो नहीं है। लोग तरह तरह की बातें करने लगे। किसी ने कहा कि चंद को देखकर दासी ने सिर ढंका क्योंकि चंद पृथ्वीराज का अभिन्न है। चंद और पृथ्वीराज को एक सुसज्जित आवास में ठहराया गया। किंतु अन्ततोगत्वा पृथ्वीराज पहचान लिया जाता है और जयचंद पृथ्वीराज पर आक्रमण करने की आज्ञा देता है।

पृथ्वीराज और संयोगिता का मिलन इसी युद्ध की पृष्ठभूमि में होता है। पृथ्वीराज सामंतों से युद्ध क्षेत्र में जाने के लिए कहता है और स्वयं नगर देखने निकल पड़ता है। इधर जयचंद की सेना ने हाथियों घोड़ों सहित आक्रमण किया उधर पृथ्वीराज ने नगर घूमने का ध्यान किया और गंगा तट पर जा पहुँचा

इते सेन चढ़ि पंगबर है गै दिसा निसान
लच्छिन नैर नरिदं करि गंग सुपलौ ध्यान

पृथ्वीराज मछलियों को मोती चुगा रहा था। सखी ने झरोखे से देखा। उसने संयोगिता से बताया। संयोगिता पृथ्वीराज को देखकर विह्वल हो गई।

मदन ने उसे सरल व निरीह बना दिया। जिह्वा से प्राणेश को रटती है। नयनों से अश्रु प्रवाहित हो रहा है। वामा को कंत कैसे/किस प्रकार मिले?

मदनं सरलति विविहा जिव्हा रटयति प्रान प्रानेस।
नयन प्रवाहति विवहा अह वामा कंत कथ्थयं।।

संयोगिता पृथ्वीराज से गंगा तट पर ही मिलती है। पृथ्वीराज संयोगिता को घोड़े पर बिठाना चाहता है। तो उसे संकोच होता है भविष्य के प्रति नारी-सुलभ डर भी कि चौहान आजीवन (भीर परत) उसका साथ देगा? मैं पिता की सारी सेना के सामने घोड़े की पीठ पर कैसे बैठूं।

किम हय पुट्ठिहि आर हौं घटि दल संगह राज।
भीर परत जो तजि चल्यौ तब मो आवै लाज।।

संकट पड़ने पर जब पृथ्वीराज मुझे तज चलेगा तब मुझे इस से लज्जा आएगी सब के सामने। पृथ्वीराज ने समझाया- मन को अब भारी मत करो। मैं जयचंद की समस्त सेना का संहार कर दूँगा। सुंदरी तब तुम्हें घोड़े पर बैठते समय लज्जा नहीं आएगी।

तब हसि जंप्यो नृप बयन गहर न कीजिय अब्ब
सब्ब पंग दल संहरौ सुंदरि लाज न तब्ब

इसके बाद संयोगिता कुछ सोच समझ रही थी कि पृथ्वीराज ने उसे बांह से पकड़ कर घोड़े पर बिठा लिया। संयोगिता घोड़े पर पृथ्वीराज की पीठ से सट कर बैठ गई। मानों पूर्ण चंद्रमा सूर्य के साथ जुड़ कर बैठ गया हो-

हय संजोगि आरुहिय पुट्ठि लग्गी सो वाम नृप
पति राका पूरन प्रमान अरक बैठे सु सूर बिप

इसके बाद पृथ्वीराज और जयचंद की सेनाओं के बीच युद्ध का विशद वर्णन है। अंत में पृथ्वीराज संयोगिता को लेकर दिल्ली पहुंचते हैं जहाँ उनका विधिवत विवाह होता है। तदुपरान्त कवि उनके केलि-विलास का जमकर वर्णन करता है।

2.2.2 युद्ध और शृंगार

रासो में प्रायः युद्ध और शृंगार दोनों का वर्णन साथ-साथ होता है। इसी ढांचे में कहीं-कहीं कवि जीवन के यथार्थ एवं मार्मिक चित्र प्रस्तुत कर देता है। निस्संदेह चंद के काव्य-मूल्य सामंती हैं किंतु अपने देश काल को देखते हुए चंद मानवतावादी कवि हैं। उनकी निर्भीकता का परिचय हम 'कैमास-वध' के प्रकरण में पा चुके हैं। कैमास की पत्नी अपने पति का शव माँगने जब जाती है तब उसकी उक्तियों में निर्वेद का ऐसा औदात्य मिलता है जो अन्यत्र शायद ही कहीं मिले। वह कहती है कि जीवन ही सभी कार्यों और आन्तरबाह्य चेष्टाओं का आधार है। जिसे अपना जीवन मूल्यवान लगता है उसे नृपति के वचनों का बहुत भय रहता है। किंतु अब तो मेरे लिए सरोवर सूख गया, हंस अपने पंखों को समेट कर उड़ गया। अर्थात मेरे पति की मृत्यु हो जाने के बाद मेरे लिए जीवन निस्सार हो गया है अब मुझे प्राणों का क्या भय - अब मुझे पृथ्वीराज का कोई डर नहीं

जउ जीवन साई अप्पन उ नृपति बहुत बच्चनह भउ
सुक्क सरोवर हंस गउ सुकिलि उडड़ अंधार भउ

चंदवरदाई वीरता की अभिव्यक्ति केवल युद्ध-वर्णन में ही नहीं करते। वे वीरता को आन्तरिक गुण मानते हैं। संकट के समय जब शूर-सामन्त पृथ्वीराज को सकुशल दिल्ली चले जाने का आग्रह करते हैं तब चौहान उनसे कहता है कि मैंने ऐसा पाठ नहीं पढ़ा है। कन्ह चाचा की वीरता का चित्रण कवि इस बिम्ब के द्वारा देता है -

मुख छुट्ठत नृप बैन दिट्ठ दिष्यौ धावन्तं।

पृथ्वीराज के मुख से निकले हुए वचन सुनाई पड़ने के साथ ही आंखों ने शत्रु पर कन्ह को आक्रमण करने के लिए दौड़ते हुए देखा।

रासो का काव्योत्कर्ष शृंगार के क्षेत्र में वीरता से कम नहीं। चंद वयस्संधि वर्णन में परम निपुण हैं। यहाँ भी वे नायिका के शरीर का ही नहीं उसके मनोभावों का भी चित्रण करते हैं। चंद प्रायः ऐसा चित्रण-वर्णन करते हैं कि पात्र के शरीर और मन का चित्रण एक साथ हो जाता है। यह शृंगार वर्णन की दृष्टि से चंद की विशेषता है।

कवि ने शशिव्रता के कैशोर आगमन का चित्रण शिशिर में अचानक वसंत आ जाने के बिम्ब-रूपक से किया है-

पुराने पत्ते झड़ गए। कोमल अंकुर निकलने लगे। शैशव उतर रहा है और कैशोर चढ़ रहा है। शीतल मंद सुगंध वायु के साथ अचानक ऋतुराज आ गया। रोमराजि, कुच, नितम्ब कोमलता वृद्धि पा गए। शीत के समान कटि बढ़ती नहीं बल्कि निरंतर क्षीण हो रही है। पत शब्द का श्लेष करते हुए कवि कहता है- (पत - पत्ता और मर्यादा, लज्जा)

पत्ते ढंक नहीं पाते तने को, वह प्रयास करने पर भी शरीर को ढंक नहीं पाती। वसंत ने तन को मत्त जो कर रखा है, कैशोर ने शशिव्रता के मन को मतवाला कर दिया है:

पत्त पुरातन झरिग पत्त अंकुरिय उट्ठि तुछ।
ज्यों सैसव उत्तरिय चढ़िय बैसव किसोर कुछ।।
सीतल मंद सुगंध आइ रितुराज अचानं।
रोमराइ अंग कुच नितम्ब तुच्छ सरसानं।।
बढ़ढै न सीत कटि छीन ह्वै लज्जामान ढकत फिरै।
ढक्कह न पत्त ठकै-कहै वन बसंत मत्त जु करै।

पृथ्वीराज द्वारा संयोगिता को घोड़े पर चढ़ाते और संयोगिता के लजाने का भी कवि ने मार्मिक चित्रण किया है। इस प्रसंग पर टिप्पणी करते हुए डॉ. नामवर सिंह लिखते हैं, 'प्रणय का प्रस्फुटन कर्म क्षेत्र में ही होता है, जहाँ युगल हृदय एक-दूसरे को सहयोग देते हुए परस्पर श्रमसिक्त मुख देखते चलते हैं।'

2.2.3 पात्र चित्रण

चंद की विशेषता यह है कि वे पात्रों की दुविधा का चित्रण करना नहीं भूलते। चाहे वयस्संधि नायिका की दुविधा हो, चाहे पृथ्वीराज के साथ दिल्ली जाने के लिए घोड़े पर बैठती संयोगिता की दुविधा। माता-पिता का घर छोड़कर पृथ्वीराज से मिलने के लिए मंदिर जाने की तैयारी करती हुई शशिव्रता के मन का द्वंद्व द्रष्टव्य है।

देव (गुरुजन, माँ-बाप) को छोड़ने का दुःख और दूसरी तरफ हृदय में प्रेम-अंकुर का जन्म लेना, इस दुविधा से शशिव्रता ने अपने को यह कह कर सांत्वना दी कि काल बलवान है-

दुख देवल को छँउनइ उर सिंचन अंकूर
दीह काल बल बीच वदि लिय समान सपूर

इसी प्रकार कितना मनोवैज्ञानिक है कवि का यह चित्रण, पृथ्वीराज ने जब पहली बार शशिव्रता का हाथ पकड़ा तो-

गहत बाल पिय पानि सु गुर जन संभरे
लोचन मोचि सुरंग सु अंसु बहे खरे
अपमंगह जिय जानि सु नैन मुख बहीं
मनो खंजन मुख मुत्त मरक्कत नरंवही

जब प्रिय पृथ्वीराज ने बाला का हाथ पकड़ा तो उसने अपने गुरुजनों (माता-पिता, मायके के लोगों) का स्मरण किया। सुंदर नेत्रों से आँसू बहने लगे। लेकिन उसने इसे अशुभ समझकर रोका। कुछ आँसू आंखों के कोनों में लगे रहे (तुलनीय- लोचन जल रह लोचन कोना- तुलसी)।

चंद ने उपमा दीः

मानों खंजन मोती खा रहा हो कुछ मुंह में लगे हैं कुछ नीचे गिर रहे हैं।

2.2.4 प्रकृति वर्णन

कवि प्रकृति वर्णन में सिद्धहस्त है। कनवज्ज समय के षट्-ऋतु वर्णन से आप परिचित हो चुके हैं। यह षट्-ऋतु वर्णन आरोपित न होकर मानव कार्य व्यापार का अंग बनकर आया है। उनके प्रकृति-वर्णन में खास बात यह होती है कि वे प्रकृति का ऐसा चित्रण करते हैं कि उससे पात्रों की तत्कालीन मनःस्थिति का चित्रण हो जाता है। कैमास अंधेरी रात में कर्णाती के साथ केलि-विलास में निमग्न है। घोर अंधकार है, मूसलाधार वर्षा हो रही है। इस स्थिति के वर्णन में कवि के बिम्बों पर ध्यान दीजिए तो प्रकृति-वर्णन के साथ संयोग-शृंगार में मन और शरीर दोनों की चेष्टाओं की अकुंठ व्यंजना मिलेगी-

अंधारेन जलेन छिन्न छितया तारानि धारा रत।
सा मंत्री कयमास काम अंधा दैवो विचित्र गत।।

अंधकारपूर्ण रात में पृथ्वी घनघोर वर्षा से छिन्न-भिन्न विदीर्ण हो रही है। तारे भी मूसलाधार वर्षा में छिपे हैं। वह मंत्री कैमास कामांध है। दैव की गति विचित्र है। पृथ्वी का घनघोर वर्षा से विदीर्ण होना घोर शृंगार का संकेत है। वर्षा में तारे छिपे हैं। इधर कैमास भी कामांध है। जिसे आधुनिक आलोचना कविता में समानान्तरवाद (पैरेलेज्मि) कहती है यह उसका उत्कृष्ट उदाहरण है। इस वर्णन के बाद कवि मानो दृश्य से तटस्थ हो गया है और दार्शनिक टिप्पणी करता है- दैव की गति विचित्र है- - दैवो विचित्रा गति। पर्य्यावसान एक प्रकार के भाग्यवादी अवसाद में होता है। सा मंत्री कयमास काम-अंधा। ऐसा योग्य और कर्तव्यपरायण मंत्री विवेकहीन हो गया यह दैव-गति की विचित्रता नहीं तो और क्या है?

पृथ्वीराज रासो के दो प्रमुख प्रसंगों - कैमास वध और कनवज्ज समय - के विश्लेषण के माध्यम से हमने **पृथ्वीराज रासो** की विषय वस्तु, कथानक, पात्र चित्रण, प्रकृति वर्णन आदि कुछ महत्वपूर्ण विषयों की चर्चा की। इस चरित काव्य के केंद्र में **पृथ्वीराज रासो** है। उसी की कथा इस महाकाव्य के माध्यम से कही गई है। इस कथा में इतिहास का उल्लंघन हो गया हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं क्योंकि कवि मानवीय सत्यों का अन्वेषक होता है वह इतिहास नहीं लिख रहा होता। कवि चंद ने अपने चरितनायक का चित्रण करते वक्त उसकी कमजोरियों को छिपाया नहीं है। कैमास-वध प्रसंग में कवि की निर्भीकता द्रष्टव्य है।

कनवज्ज समय में अनेक मार्मिक प्रसंग आए हैं। कनवज्ज समय में वर्णित षट्-ऋतु वर्णन हिंदी साहित्य की अनुपम धरोहर है। कवि ने उस युग की समृद्ध नगरी कान्यकुब्ज के सौंदर्य का वर्णन विस्तार से किया है। इसमें कवि की उपमा शक्ति देखने लायक है। राजा जयचंद के राजदरबार में चंदबरदाई के साथ छद्म वेश में पृथ्वीराज के जाने की घटना भी नाटकीयता से भरपूर है। इसके बाद गंगा के किनारे संयोगिता और पृथ्वीराज का मिलन अद्भुत है। कवि भला कब चूकने वाला था!

चंदवरदाई की कल्पना शक्ति और मनोवैज्ञानिक स्थितियों के चित्रण की क्षमता का परिचय आपने प्राप्त कर लिया। आइए अब **पृथ्वीराज रासो** की भाषा पर विचार किया जाए।

2.3 काव्य कौशल

निस्संदेह चंदवरदाई एक कुशल कवि हैं। उनका काव्य कौशल इसका स्पष्ट प्रमाण है। भाषा पर उनका अधिकार असाधारण है। उन्होंने पहले से चली आ रही काव्य परंपरा को एक ऊँचाई प्रदान की।

कवि में भावों के अनुरूप भाषा को मोड़ने की अद्‌भुत क्षमता है। बाद में कबीर और तुलसी में यह क्षमता फिर से देखने को मिलती है। भावानुकूलता और तीव्र सौंदर्यात्मकता चंद की भाषा की प्रमुख विशेषता है।

2.3.1 छंद

चंदवरदाई छंद के राजा माने जाते हैं। जैसे-जैसे भाव बदलते जाते हैं वैसे-वैसे कवि छंद की राह बदलता चलता है और आरोह-अवरोह के साथ भाषा संगीतमय लय में गुनगुनाती हुई ठुमकती चलती है। इससे एक संगीत पैदा होता है। चंदवरदाई छंदों के अधिकारी कवि हैं। उन्होंने अपने समय में प्रचलित अधिकांश छंदों का प्रयोग किया है। सबसे ज्यादा मन लगता है छप्पयों में। चंद मार्मिक चित्रण छप्पयों में करते हैं। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि वे अन्य छंदों में मार्मिक उक्तियाँ नहीं कहते। गाथा का उपयोग वे प्रायः कथा को आगे बढ़ाने के लिए करते हैं।

2.3.2 अनुनासिकता

रासो का कवि अनुनासिक प्रयोग से प्राय: झंकार उत्पन्न करता है। चाहे शृंगार हो या वीर यह अनुनासिक झंकार **रासो** में अबाध गति से सुनाई पड़ती है। झंकार-स्थिति को ध्वनित करके गुंजा देता है। यह प्रवृत्ति तुलसीदास में भी मिलती है। इसी प्रकार द्वित्व व्यंजनों का प्रयोग प्रधानतः युद्ध वर्णन में और सामान्यतः सर्वत्र मिलता है। **रासो** का कवि अपने समय की काव्य-परंपरा का रस सिद्ध कवि है। उसने स्वयं लिखा है-

रासउ असंभु नव रस सरस छंदु चंद किय अमिय सम।
शृंगार वीर करुन विभच्छ मय अद्‌भुतइ संत सम।।

2.3.3 ध्वनि प्रवाह

चंद की काव्य भाषा में अनुस्वार द्वित्व मिश्र की ध्वनियाँ प्रवाह-अवरोध नहीं करतीं। वे चंद के कुशल हाथों अभूतपूर्व प्रवाह उत्पन्न करती हैं। प्राकृत-अपभ्रंश की काव्य परंपरा में चंद का ध्वनि-प्रवाह अद्वितीय है। ध्वनि-प्रवाह अपभ्रंश के महान कवि स्वयंभु में चंद से कम नहीं किंतु चंद का काव्य-प्रवाह द्वित्व एवं अनुस्वार के साथ गूंजता हुआ गतिशील होता है। चंद चाहे देवी देवताओं की स्तुति करें, युद्ध का वर्णन या नारी-शरीर का सौंदर्य या विनोद - यह अनुस्वार द्वित्व सहित प्रवाह सर्वत्र दिखलाई पड़ता है। वे वर्णानुप्रास के भी सिद्ध कवि हैं। उनके भाव नाद-प्रवाह में रूपांतरित हो जाते हैं- जिसे हमारे साहित्य शास्त्रियों ने शब्दार्थ का सहित त्व कहा है। काव्य के प्रारंभिक अंश में सरस्वती वंदना में स्वर व्यंजनों की मैत्री से उत्पन्न ध्वनि की आवर्त चंद की शैली का ठेठ उदाहरण हैं।

मुलाहार विहार सार सुबुधा अब्धा बुधा गोपिनी
सेतं चीर सरीर नीर गहिरा गोरी गिरा जोगिनी
बीना पानी सुबानि जानि दधिजा हंसा रसा आसिनी
लंबोजा चिहुरार भार जघना बिध्ना घना नासिनी

जरा सा ही विचार करने पर ज्ञात हो जाएगा कि यह प्रवाह चाहे जितना स्वाभाविक लगे, इसके पीछे गहरा लोक-ज्ञान, परंपरा ज्ञान, संवेदना एव अभ्यास है।

'कनवज्ज समय' में युद्ध के इस वर्णन में युद्धमत्त सैनिकों के हथियारों और कोलाहल का निनाद-

बजंत धाय सद्दकं ननद सद्द सुंदर।
गरब्बि देखि अग्गि ज्यों विदोष मन्न जे दुरं।।
उठंत दिष्ट सुर की करूर अंखि राजई।
मनो कि सौकि बीय दिष्ट बंकुरीति साजई।।

चंदवरदाई रूढ़ उपमानों के उपयोग से सौंदर्य वर्णन में शृंगार को अद्‌भुत से पुष्ट भी कर सकते हैं। प्रसंग पृथ्वीराज द्वारा संयोगिता का प्रथम दर्शन है। पृथ्वीराज ने देखा-

कुंजर के ऊपर सिंह। सिंह के ऊपर दो पर्वत। पर्वत पर भौरें। भौरों पर चन्द्रमा। चन्द्रमा के ऊपर एक तोता बैठा है। जिस पर दो हिरण है हिरन पर दो धनुष और धनुष पर कंदर्प

कुंजर उप्पर सिंघ, सिंघ उप्पर दुइ पव्वय।
पव्वय उप्पर भृंग भृंग उप्पर ससि सुभ्भय।।
ससि उप्पर इक कीर कीर उप्पर मृग दिट्‌ठौ।
मृग उप्पर कोवंड संघ कन्द्रप्प वयट्‌ठौ।।

कहने की आवश्यकता नहीं कि ये नख-शिख के रूढ़ उपमान हैं जिन्हें चंद ने अपने ढंग से प्रस्तुत करके अद्‌भुत को शृंगार का सहायक बना दिया है। इसी प्रकार वे यथाअवसर वीभत्स और भय को वीर का सहायक बनाते हैं।

2.4 सारांश

रासो का हिंदी साहित्य के इतिहास में अविस्मरणीय स्थान है। **रासो** अपनी पूर्ववर्ती परधारा और परवर्ती साहित्य-विकास का सेतु है। उसमें पूर्ववर्ती काव्य-प्रवृत्तियों का संधान मिलता है तो परवर्ती प्रवृत्तियों के रूप। **पृथ्वीराज रासो** के महत्व पर प्रकाश डालते हुए डॉ. नामवर सिंह ने ठीक ही कहा है-

> **रासो** मानव जीवन की विविध परिस्थितियों और भाव दशाओं का महासागर है। यही वह विशेषता है जिससे युग के सभी काव्यों में **रासो** को सर्वोपरि स्थान दिया गया है। निश्चय ही यह उस युग की सांस्कृतिक परिस्थितियों तथा पूर्व परम्पराओं का बृहद्‌कोश है और मध्ययुगीन भारतीय समाज का एक काव्यात्मक इतिहास है।

इस इकाई में हमने **पृथ्वीराज रासो** के काव्यत्व पर विचार किया। दो इकाइयों में हमने **पृथ्वीराज रासो** का अध्ययन किया। पहली इकाई में हमने **पृथ्वीराज रासो** की प्रामाणिकता पर विचार किया था। इस संदर्भ में हमने कहा था कि **पृथ्वीराज रासो** का मूल्यांकन एक काव्य-ग्रंथ के रूप में किया जाना चाहिए न कि एक इतिहास-ग्रंथ के रूप में। दूसरी इकाई में **पृथ्वीराज रासो** के काव्यत्व पर विचार करते हुए हमने पाया कि **रासो** एक उत्कृष्ट रचना है। सामंती मूल्यों से ग्रस्त होने के बावजूद इसमें मानवीय क्रिया कलापों का स्वच्छंद, निर्भीक, यथार्थपरक और मार्मिक चित्रण किया गया है।

2.5 अभ्यास/प्रश्न

1. पृथ्वीराज रासो में वर्णित प्रसंगों का उल्लेख कीजिए।
2. कैमास वध में कवि की निर्भीकता किस प्रकार प्रकट हुई है?
3. कनवज्ज समय के षट्-ऋतु वर्णन का क्या महत्व है?
4. चंद को छंद का राजा क्यों कहा जाता है?

इकाई-3 विद्यापति और उनका युग

इकाई की रूपरेखा

3.० उद्देश्य
3.1 प्रस्तावना
3.2 विद्यापति का युग
  3.2.1 राजनीतिक परिस्थिति
  3.2.2 सामाजिक स्वरूप
  3.2.3 इतिहास
3.3 विद्यापति की भाषा
  3.3.1 जन भाषा का निर्माण
  3.3.2 भाषागत विशेषताएँ
3.4 सारांश
3.5 अभ्यास/प्रश्न

3.0 उद्देश्य

पिछली दो इकाइयों में आपने **पृथ्वीराज रासो** की प्रामाणिकता, ऐतिहासिकता, भाषा, काव्यरूप और काव्यत्व का अध्ययन किया। अब हम आदिकाल के एक प्रमुख कवि **विद्यापति** का अध्ययन करने जा रहे हैं। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- विद्यापति के साहित्य में राजनीति, समाज और इतिहास का परिचय प्राप्त कर सकेंगे, और
- विद्यापति की भाषा की उर्वरता की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

हिंदी साहित्य के आदिकाल के सर्वाधिक लोकप्रिय ग्रंथ **पृथ्वीराज रासो** से आप पिछली दो इकाइयों में परिचित हो चुके हैं। इससे आपको आदिकालीन काव्य की एक विशिष्ट शैली की जानकारी मिली। हिंदी साहित्य के आरंभिक युग में कई शैलियाँ और धाराएँ एक-साथ विकसित हुईं। इस युग में महाकाव्य भी लिखे गए और मुक्तक भी, प्रशस्ति काव्य भी रचे गए और शृंगार काव्य की भी रचना की गई, सिद्ध-नाथों ने भी काव्य रचा और जैन-मुनियों ने भी साहित्य की रचना की। इसी युग में विद्यापति कविताएँ लिख रहे थे। विद्यापति का युग आदिकाल के अवसान का युग था। भक्तिकाल का आरंभ नहीं हुआ था और आदिकाल की क्षमताएँ चुक रही थीं। दहलीज पर खड़ा कवि आदिकाल की पूरी परम्परा से जुड़ा था और नए युग के आगमन का संकेत भी दे रहा था। इसीलिए **कीर्तिलता** और **कीर्तिपताका** जैसे प्रशस्ति काव्य ग्रंथ लिखे गए, "पदावली" जैसी शृंगारिक उक्तियाँ अभिव्यक्त की गईं और राधा तथा कृष्ण का स्मरण कर कवि ने बता दिया कि आने वाला युग भक्ति को समर्पित है। विद्यापति की इस व्यापकता में विविधता, नूतनता और प्रयोग भी परिलक्षित हो सकता है और कहीं-कहीं इन सभी प्रवृत्तियों के बीच अंतर्विरोध भी नज़र आ सकता है।

विद्यापति की रचनाओं में उनका युग प्रतिबिम्बित हुआ है। **कीर्तिलता** और **कीर्तिपताका** इतिहास के दस्तावेज़ हैं। **पृथ्वीराज रासो** के समान इसमें प्रक्षेप नहीं हुआ है, अतः ऐतिहासिक भूलें नहीं की गई हैं। सभी तथ्य इतिहास-सम्मत हैं।

विद्यापति की भाषा अपभ्रंश से छूटती हुई और आधुनिक आर्यभाषाओं की ओर बढ़ती हुई भाषा है। उनकी भाषा जन-भाषा है। संस्कृत, फारसी, प्राकृत आदि स्रोतों से कवि ने शब्द ग्रहण अवश्य किया है परंतु उसे ज्यादा से ज्यादा जन-भाषा मैथिली के नज़दीक ले जाने का प्रयास किया है। सामाजिक और ऐतिहासिक दृष्टि से उनकी भाषा सामासिक संस्कृति के भाषाई विकास का प्रमाण प्रस्तुत करती है।

3.2 विद्यापति का युग

इतिहासकारों के बीच प्रायः मान्य है कि विद्यापति सन 1360 से 1480 के बीच मौजूद थे। अनेक दृष्टियों से यह संक्रमण-काल माना जाता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने विद्यापति को न तो वीरगाथाकाल में रखा है और न भक्ति काल में। अनेक इतिहासकारों ने आचार्य शुक्ल की इतिहास-लेखन पद्धति की आलोचना करते हुए इसी बात को अपना दृष्टांत बनाया है कि इतिहास में विद्यापति का स्थान तय करने के लिए आचार्य शुक्ल को फुटकल खाता खोलना पड़ा। लेकिन, यह ऐतिहासिक वास्तविकता है कि विद्यापति संक्रमण-काल के कवि हैं। विद्यापति की रचनाओं की अंतर्कथा एवं अंतर्वस्तु पर तथा साहित्य, समाज और राजनीति के इतिहास पर ध्यान देने से संक्रमण की प्रक्रिया और विद्यापति की रचनात्मक विशेषताओं के बीच घना संबंध दिखायी पड़ता है। प्रवृत्तियों की दृष्टि से वे हिंदी साहित्य के इतिहास में न वीरगाथा के कवि हैं और न भक्ति आंदोलन के। यों **कीर्तिलता** और **कीर्तिपताका** में भी उन्होंने अपने चरित नायकों की वीरता का वर्णन किया है और वह वर्णन रोमांचक वीरता से भरपूर है और उनके पूरे काव्य में भक्ति के भी ढेर सारे पद हैं। भक्ति भावना होने के बावजूद वे भक्ति आंदोलन के अंग नहीं हैं, क्योंकि उनकी भक्ति-भावना में आंदोलन की चेतना नहीं है। इन बातों से परे विद्यापति मूलतः शृंगारिक कवि हैं। जो लोग विद्यापति की पदावली का भक्तिपरक अर्थ निकालने की कोशिश कर रहे थे, उन पर व्यंग्य करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने "इतिहास" में कहा था कि आजकल आध्यात्मिकता के चश्मे बहुत सस्ते हो गए हैं। अतः विद्यापति की मूल प्रवृत्ति और उनके समय की विकासमान प्रवृत्ति में एक तरह से अंतर्विरोध था। यही साहित्यिक एवं ऐतिहासिक कारण है कि आचार्य शुक्ल उन्हें फुटकल खाते में रखते हैं। इससे विद्यापति का काव्यात्मक या ऐतिहासिक महत्व कतई कम नहीं होता, बल्कि उनकी विशिष्टता ही प्रमाणित होती है। वे युगांतर के कवि थे।

3.2.1 राजनीतिक परिस्थिति

विद्यापति के समय में भारत में आम तौर से दिल्ली सल्तनत का राज था। इसे स्पष्ट रूप से कहा जाए कि विद्यापति के जीवन-काल में दिल्ली पर तुगलक और लोदी वंश का शासन था। ज़ाहिर है कि विद्यापति के जन्म के बहुत पहले भारत में इस्लाम का आगमन हो चुका था और दिल्ली सल्तनत भी बहुत पहले स्थापित हो चुका था। भारत की जनता ने काफी पहले दिल्ली सल्तनत को स्वीकार कर लिया था, बावजूद इसके कि पूरे देश पर दिल्ली सल्तनत का प्रत्यक्ष शासन नहीं था। लेकिन व्यवहार में उनका प्रभुत्व देश पर था। देशभर में फैली स्थानीय सत्ताएं सल्तनत का प्रभुत्व स्वीकार कर चुकी थीं। प्रायः आठवीं शताब्दी से उत्तर भारत में जो राजनीतिक अस्थिरता थी, वह दिल्ली सल्तनत की स्थापना से समाप्त हो गई थी। लेकिन सत्ता के लिए संघर्ष होता रहता था। "सत्ता के लिए होने वाली इस प्रतिद्वंद्विता में सल्तनत का उद्भव एक निर्णायक तत्व के रूप में हुआ और उसने प्रादेशिक शक्तियों को बढ़ने से रोकने का प्रयत्न किया।" (रोमिला थापर - भारत का इतिहास, 1975 संस्करण, पृ.241) अखिल भारतीय स्तर पर राजनीतिक स्थिति का एक पहलू यह था कि केंद्रीय सत्ता दिल्ली सल्तनत की थी, जो भीतरी अंतर्विरोध और उठा-पटक के बावजूद कायम थी। उसके प्रभाव से परम्परागत भारतीय राजनीति समाप्त-प्राय हो गयी थी, या शेष थी तो क्षेत्रीय एवं स्थानीय शासन के रूप में ही। इस क्रम में उल्लेखनीय है कि भारतीय राजनीति और समाज में धार्मिक दृष्टि से दो समुदाय हिंदू और मुसलमान अस्तित्व में आ गए थे। इस नई बात ने राजनीति में भी नयापन ला दिया। जवाहरलाल नेहरू ने **भारत की खोज** में अमीर खुसरो का जिक्र करते हुए लिखा था कि देश में मुसलमानों के आगमन के बाद राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से जो नयापन विकसित हुआ उसी की देन है अमीर खुसरो। यह बात थोड़े-बहुत फर्क के साथ विद्यापति के बारे में भी कही जा सकती है। यदि विद्यापति **कीर्तिलता** और **कीर्तिपताका** जैसी कृतियों की रचना नहीं करते तो शायद यह बात नहीं भी कही जाती, लेकिन यह तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति की भूमिका का रचनात्मक प्रभाव है कि विद्यापति ने **कीर्तिलता** और **कीर्तिपताका** की रचना की। खुसरो और विद्यापति में फर्क यह है कि खुसरो दिल्ली में रहते थे और विद्यापति मिथिला में। दिल्ली में दिल्ली सल्तनत की राजधानी थी, फलतः खुसरो का उससे सीधा लगाव था। मिथिला दिल्ली से बहुत दूर देश के पूर्वी क्षेत्र का अंग होने के कारण केंद्रीय सत्ता में होने वाले उथल-पुथल के तात्कालिक प्रभाव से दूर रही है। "मिथिला (उत्तरी बिहार) में - जो अन्य अधिकांश स्थानों की अपेक्षा अधिक समय तक तुर्क आक्रमणों से अछूता रहा था - संस्कृत विद्या के एक केंद्र का विकास हुआ, क्योंकि वहाँ भारी संख्या में ब्राह्मण

एकत्रित हो सके, जिन्होंने अपनी कृतियों में संस्कृत साहित्य की परम्परा को सुरक्षित रखा।'' (रोमिला थापर - उपर्युक्त ग्रंथ, पृ.284) इस कथन का महत्व इस बात को ध्यान में रखकर समझा जा सकता है कि दिल्ली सल्तनत के शासनकाल में फारसी के राजभाषा हो जाने से संस्कृत का महत्व कम हो गया और इसी कारण समाज में ब्राह्मणों का भी महत्व घट गया।

मिथिला में संस्कृत भाषा-साहित्य की परम्परा और ब्राह्मणों का प्रभाव कायम रहने के बावजूद विद्यापति के समय में बदलाव आया। मिथिला पर असलान शाह का हमला भी हुआ और भाषा-साहित्य के अखिल भारतीय परिदृश्य का प्रभाव भी पड़ा। इतिहासवेत्ता राधाकृष्ण चौधरी लिखते हैं, "विद्यापति के समय में इस्लाम और हिन्दू धर्म के बीच भी एक प्रकार का आदान-प्रदान शुरू हो चुका था और उत्तर बिहार उस समय सूफियों का एक प्रधान केंद्र बन चुका था। महाराज शिव सिंह ने कुछ मुसलमान संतों और फकीरों को जो दान दिया था उसका प्रमाण भी मिला है। हिन्दू-मुसलमान का संबंध मिथिला के क्षेत्र में काफी अच्छा था और ज्योतिरीश्वर के ठाकुर 'वर्ण रत्नाकर' में जो विदेशी अरबी-फारसी शब्द हैं, इससे यह सिद्ध होता है कि राजनीतिक आधिपत्य के बहुत पूर्व ही मिथिला में अरबी-फारसी भाषा से सम्पर्क हो गया था। सूफी संतों और फकीरों के माध्यम से ही यह संभव हुआ होगा।....दोनों धर्मों के समन्वय और समागम से नवीन दृष्टिकोण का बीजारोपण हो रहा था और विद्यापति-युग आते-आते इसका और भी विकास हुआ।" (विद्यापति युग का सामाजिक-सांस्कृतिक अध्ययन - ''विद्यापति अनुशीलन और मूल्यांकन'' में संकलित, सम्पादक डॉ.वीरेन्द्र श्रीवास्तव, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी से प्रकाशित) विद्यापति की रचनाओं में इस संक्रान्ति और समन्वय के दौर में विकसित नए दृष्टिकोण की झलक मिलती है। इस दृष्टिकोण की मुख्य विशेषता है राजनीति का धार्मिक प्रभाव से मुक्त होना। धर्म-निरपेक्ष शब्द नया है यानी उस समय यह शब्द नहीं था, लेकिन इसका जो अर्थ है, उसमें निहित जो दृष्टिकोण है, वह कीर्तिलता में है, बल्कि यह कहना बेहतर होगा कि यह दृष्टिकोण विद्यापति में भी है। कीर्तिलता में यह वर्णित है कि राज्य लोभी असलान ने धोखे से तिरहुत के राजा गणेश्वर को मार डाला और राज्य पर कब्जा कर लिया। इसके बाद भी राजा गणेश्वर के पुत्र कीर्ति सिंह ने सोचा कि असलान से बदला लेने के लिए सुल्तान की मदद लेनी चाहिए। उसने सुलतान से मदद माँगी और सुलतान ने असलान के खिलाफ कीर्ति सिंह को मदद दी। सुलतान की सेना की मदद से कीर्ति सिंह ने असलान को भयानक युद्ध में हरा कर खदेड़ दिया और अपने राज्य पर फिर से कब्जा जमा लिया। ध्यान देने की बात यह है कि मुसलमान हमलावर के खिलाफ मदद माँगने के लिए कीर्ति सिंह मुसलमान सुलतान के पास ही गया और मदद पाकर राज्य वापस लिया। यह इस बात का सबूत है कि राजनीति धर्म से प्रेरित नहीं थी। इस प्रसंग में यह भी महत्वपूर्ण है कि सुलतान ने असलान के हारने के बाद राज्य को अपने अधीन नहीं कर लिया, बल्कि कीर्ति सिंह का ही राज्याभिषेक कर दिया। यह भी उल्लेखनीय है कि कीर्ति सिंह के पूर्वज भोगीस राय को दिल्ली के बादशाह फिरोज़शाह तुगलक अपना सखा कहते थे। तत्कालीन राजनीति का असली रूप राज्य पाने के लिए की जाने वाली साजिशों, हमलों, लड़ाइयों और खूंरेजी में देखा जा सकता है। इन सबके फलस्वरूप समाज को राजनीतिक अराजकता के दुष्परिणाम झेलने पड़ते थे। **कीर्तिपताका** में भी राजा शिव सिंह और सुलतान का युद्ध वर्णित है। युद्ध में शिवसिंह को विजयी दिखाया गया है। इस विजय के फलस्वरूप राजा शिव सिंह की कीर्ति-पताका चारों तरफ फहराती है। राजतंत्र के युग में राजा की कीर्ति जनता की भलाई अथवा अन्य किसी गुण के कारण नहीं, युद्ध में विजय के जरिये ही फैलती है। राजा की शक्ति सेना और युद्ध जीतने की क्षमता में निहित रहती थी। **कीर्तिलता** में भी इक्कीसवें पद में कहा गया है कि ''जो तीखा तर्क कर सकता है, तीनों वेदों को पढ़ता है, दान से दरिद्रता का दलन करता है, परम ब्रह्म को परमार्थ समझता है, धन से कीर्ति बटोरता है, पराक्रमपूर्वक शत्रु से लड़ता है, वह ओइन वंश संसार-प्रसिद्ध है। दोनों बातें एक-साथ नहीं हो सकती। राजा (भूपति) भी हो और ब्राह्मण (भूदेव) भी, यह संभव नहीं। इस कथन में भी देखें कि राजा की कीर्ति धन और सैन्य बल के आधार पर ही फैलती है। यहाँ तो विद्यापति ने धन की भूमिका को ज्यादा असरदार बताया है।

3.2.2 सामाजिक स्वरूप

राजतंत्र राजनीतिक व्यवस्था कायम करने के अलावा समाज में सामंतवादी व्यवस्था की रक्षा करता था। इस तरह प्रजा का दुहरा शोषण होता था। **कीर्तिलता** और **लिखनावली** में इस बात का उल्लेख मिलता है कि मिथिला का समाज सामंतवादी था। इसलिए सामाजिक विषमता कई रूपों में मौजूद थी, जिसकी अभिव्यक्ति राजनीति और समाज में कई तरह से होती रहती थी। आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से निचले तबके के लोग राजनीतिक सत्ता के लाभ से तो वंचित थे ही, उसके दमन के भी शिकार होते थे।

तत्कालीन समाज वर्णों, जातियों और वर्गों में विभाजित था। राजनीतिक अस्थिरता का सामाजिक स्थिति पर प्रतिकूल असर पड़ता था, जिसका लाभ ऊंचे तबके के लोग ही उठाते थे और निचले तबके के लोगों का संकट बढ़ जाता था, जिससे विषमता और बढ़ ही जाती थी। कीर्तिलता के "द्वितीय पल्लव" के प्रारंभ में ही निम्नलिखित पद है, जिससे सामाजिक स्थिति का पता चलता है -

ठाकुर ठक भए गेल चोर सरपरि घर सज्जिअ।
दासे गोसाउनि गहिअ धम्म गए धंध निमज्जिअ।।
खले सज्जन परिभविअ कोइ नहि होइ विचारक।
जाति अजाति विवाह अधम उत्तम कौ पारक।।

अर्थात राजा गणेश्वर के निधन के बाद हालत इतनी बिगड़ गई कि ठाकुर ठग हो गए, चोरों ने बलपूर्वक घरों पर कब्जा कर लिया, नौकरों ने गृह-स्वामिनियों को धर दबाया, धर्म खत्म हो गया और धंधे डूब गए, दुष्टों ने सज्जनों को दबोच लिया, कोई विचार करने वाला नहीं रहा, जाति और अजाति में विवाह होने लगे, अधम और उत्तम के भेद का विवेक करने वाला कोई नहीं बचा।

फिर आगे की दो पंक्तियों में कहा गया है -

अक्खर रस बुज्झि निहार नहि कवि कुल भमि भिख्खरि भऊं।
तिरहुत्ति तिरोहि सबे गुणे रा गणेथ जबे सग्ग गउं।।

अर्थात अक्षर-रस (यानी काव्य-रस) का मर्मज्ञ कोई नहीं बचा, कवि लोग घूम-घूम कर भिखारी हो गए। राजा गणेश्वर जब स्वर्ग चले गए तो तिरहुत के सभी गुण तिरोहित हो गए।

कवि तो कह रहा है कि राजा गणेश्वर के स्वर्गवास के बाद तिरहुत के समाज में उपर्युक्त दुर्वृत्तियाँ फैल गईं, लेकिन वैज्ञानिक ढंग से सोचने पर स्पष्ट होगा कि ये दुर्वृत्तियाँ समाज में पहले से थीं; हाँ, राजा का कठोर शासन रहा होगा, जिसके भय से जनता में एक व्यवस्था थी। वह भय खत्म हो जाने से या समाज में अराजकता छा जाने से ठगी बढ़ गई, चोरी और सीनाजोरी बढ़ गई, परिवारों में अनाचार होने लगा, धर्म के नियम गायब हो गए और अव्यवस्था के कारण व्यापार चौपट होने लगा। ऐसे दौर में आम तौर से निचले तबके के लोग ऊपर उठते हैं, इसलिए उस समय के तिरहुत में भी जातीय भेदभाव पर चोट पड़ने लगी और कवियों की हालत खराब हो गई।

यह हालत तो मिथिला के सामान्य समाज की थी, लेकिन कीर्ति सिंह के जौनपुर पहुँचने पर इस नगर का जो वर्णन किया गया है, उससे समाज के एक दूसरे रूप का साक्षात्कार होता है। इस वर्णन से वर्ग विभाजित सामंती समाज का जीवंत स्वरूप सामने आ जाता है। बड़ी-बड़ी और ऊंची-ऊंची अट्टालिकाओं के वर्णन से धनाढ्य राज्यसत्ता से जुड़े वर्ग का बोध होता है। बाज़ार की भीड़ का **कीर्तिलता** में रोचक वर्णन है। नगर के समाज में ब्राह्मण, कायस्थ, राजपूत और अन्य अनेक जातियाँ बसी थीं। वहाँ वेश्याएं भी थीं और उनके भी महल ऐसे थे कि कवि को लगता है कि उन्हें स्वयं विश्वकर्मा ने बनाया हो। वहाँ बड़ी संख्या में गुलाम भी थे जो बिकने के लिए तैयार रहते थे। वहाँ दासियाँ और नौकर-चाकर भी बहुतेरे थे। हिंदू-मुसलमान एक साथ रहते थे, हालाँकि राज्य की सुविधा की दृष्टि से भेदभाव थे। इसके बावजूद "कहीं बांग दी जा रही है, कहीं वेद-पाठ है, कहीं बिस्मिल्लाह है, कहीं बलि है। कहीं ओझा है, कहीं खोजा है। कहीं नकल (रात्रि-व्रत) है, कहीं रोजा है, कहीं ताम्रपत्र है और कहीं कूजा है।" कहीं मुसलमानों के द्वारा जोर-जबरदस्ती किए जाने का भी वर्णन है। ऐसा लगता है व्यवसाय काफी विकसित था। ऐसा वर्णन है कि "दोपहर में भीड़ लगती है। पृथ्वी मंडल की समस्त वस्तुएं बिकने आती हैं। व्यापारी क्षण में (यानी कम समय में) अपनी सारी चीज़ें बेच लेते हैं और जो खरीदना होता है, खरीद लेते हैं। लेकिन जौनपुर के प्रसंग में वर्णित समाज का यह ढाँचा मिथिला में भी था। "मैथिल समाज सामंतवादी आधार पर ही टिका हुआ था और मध्यकालीन सामंतवादी समाज के सारे दोष वहाँ विराजमान थे। समाज में मूलतः दो वर्गों के लोग थे और बेगार की प्रथा थी।...वास्तविकता यह थी कि मध्ययुग में ब्राह्मण बड़े-बड़े सामंत थे और वे जमीन दान देकर अपने अधीन छोटे-छोटे सामंत रखते थे।" (राधा कृष्ण चौधरी) उस समय तक जाति-प्रथा मिथिला में और भी मज़बूत हो गयी थी जिसका खास कारण था वहाँ राजा हरि सिंह देव के समय (सन 1324) से पंजी की प्रथा का प्रचलित होना। प्रो.चौधरी लिखते हैं कि "जातीय शुद्धि के नाम पर अथवा अपने पद को और ऊपर उठाने के निमित्त एक-एक व्यक्ति ने पच्चीस-पच्चीस विवाह करने शुरू कर दिए और इस तरह "बिकौआ" की प्रथा चल पड़ी। इस तरह पंजी प्रथा ने जाति-व्यवस्था और विवाह को और विकृत ही बनाया। विद्या और ज्ञान की भूमि होने के बावजूद मिथिला में भी धन ही सामाजिक

प्रतिष्ठा का मुख्य आधार था। जहाँ पच्चीस विवाह एक पुरुष करता था वहाँ स्त्रियों की दुर्दशा का सहज अनुमान लगाया जा सकता है।

लिखनावली में विद्यापति ने सामाजिक स्थिति का वर्णन किया है। उसके अध्ययन से पता चलता है कि राज्य से जुड़े लोगों में विलासिता व्याप्त थी और जनता में दरिद्रता। **कीर्तिलता** के एक कथन के उल्लेख से बताया जा चुका है कि राजा कभी-कभी दरिद्रों को दान दिया करते थे। ''दान'' सम्पन्नता और दरिद्रता की परस्पर विरोधी जीवन-स्थितियों के होने का प्रमाण है। समाज में उन लोगों का सम्मान बहुत था जो राज-दरबार से सम्पृक्त होते थे। गरीबों की हालत बहुत खराब थी। दासों को तो प्रतिदिन एक वक्त का आहार ही मिलता था। किसानों की हालत कुछ बेहतर थी। लेकिन किसी-किसी किसान को बैल बंधक रखना पड़ता था। समाज में सूदखोर महाजन थे, जो किसानों को कर्ज़ देकर फसल कटने के समय दो गुना वसूल कर लेते थे।

ज़ाहिर है कि विद्यापति-युगीन समाज वर्ग-विभाजित था। राजा और सामंत प्रभुत्व में थे। व्यापारी और महाजन भी सुखी-सम्पन्न थे। किसान, खेत मजदूर और दास शोषित वर्ग के अंग थे। सामाजिक विषमता और अंतर्विरोध का यह मुख्य रूप था। समाज में जात-पाँत थी ही। अन्य सामाजिक तबकों की स्थिति का उल्लेख पहले हो चुका है। यह सामाजिक स्थिति है, जो विद्यापति को प्रेरित और प्रभावित करती है, और अनेक रचनाओं में वे इसका चित्रण करते हैं। ध्यान देने की बात है कि यथार्थ-चित्रण से एक तरफ साहित्य की महिमा बढ़ती है तो दूसरी तरफ समाज को समझने का स्रोत प्राप्त होता है।

3.2.3 इतिहास

साहित्य के आधार पर इतिहास लिखने की पद्धति अपने देश में हाल में ही अपनाई गई है। लेकिन वास्तविकता यह है कि प्राचीन भारत का इतिहास भी पहले साहित्यिक कृतियों के आधार पर ही लिखा गया। बाद में इतिहास-लेखन के अन्य साधन उपलब्ध हुए तो साहित्य को आधार बनाने की प्रवृत्ति घट गई। अब फिर से इतिहास-लेखन में साहित्य को आधार बनाने की प्रवृत्ति बढ़ी है। जिस साहित्य में यथार्थ-चित्रण की प्रवृत्ति मिलती है, वही साहित्य खास तौर से इतिहास-लेखन का आधार बनता है। विद्यापति की कृतियों में **कीर्तिलता, कीर्तिपताका, लिखनावली** आदि में इतिहास संबंधी सामग्री मिलती है। लेकिन इन कृतियों की इतिहास संबंधी सामग्री में कितनी ऐतिहासिकता है, इसकी जाँच करना आवश्यक होता है। **कीर्तिलता, कीर्तिपताका, लिखनावली** में जो कथा या जो तथ्य वर्णित हैं, उनसे ऐतिहासिकता का पता चलता है। राजा कीर्ति सिंह और शिव सिंह ओइन वंश के थे, यह उल्लेख कथा को ऐतिहासिकता प्रदान करता है। यह वंश मिथिला में आज भी उपलब्ध है। दिल्ली के तुर्क बादशाह फिरोज़शाह मिथिला के भोगीस राय को भाई की तरह मानते थे। इससे भी कथा में ऐतिहासिकता आ जाती है। विद्यापति प्रायः फिरोज़शाह तुगलक और उसके कुछ बाद लोदी वंश के समय में भी थे। इसलिए वे स्वयं मिथिला की ऐतिहासिक कथा के प्रमाण बन गए लगते हैं।

कीर्तिपताका में मिथिला के राजा गणेश्वर सिंह और असलान का युद्ध फिर असलान के खिलाफ लड़ने के लिए कीर्ति सिंह के द्वारा सुलतान की मदद लेना ऐतिहासिक घटनाएं हैं। इसी तरह, **कीर्तिपताका** में राजा शिव सिंह और सुलतान का युद्ध भी कथा को ऐतिहासिकता प्रदान करता है। मिथिला के इतिहास से जुड़ी ये घटनाएं यद्यपि मध्यकालीन भारतीय इतिहास की मुख्य धारा से कुछ भिन्न लगती हैं, फिर भी मध्यकाल के इतिहास को समग्रता प्रदान करने की दृष्टि से **कीर्तिलता** और **कीर्तिपताका** की कथा का ऐतिहासिक महत्व है।

यह ऐतिहासिक तथ्य है कि कर्णाट वंश के अंतिम शासक हरिसिंह देव ने तीर भुक्ति राज्य ओइनवार वंश को सौंपा था। यही हरिसिंह देव हैं जिन्होंने तेरहवीं सदी में मिथिला में ब्राह्मणों के लिए पंजी का निर्माण कराया। **कीर्तिलता** की कथा बताती है कि कैसे कीर्ति सिंह राजा बने। विद्यापति ने भृंग-भृंगी संवाद के रूप में लिखित कथा में भृंगी से प्रश्न करवाया कि राजा कीर्ति सिंह किस वंश के थे और वे स्वयं कौन थे! इसी प्रश्न के उत्तर के रूप में **कीर्तिलता** की रचना हुई है। विद्यापति के बारे में ऐतिहासिक रूप से स्वीकृत है कि वे राजा शिवसिंह के दरबार में रहते थे। उनकी पदावली में भी बार-बार राजा शिवसिंह और उनकी रानी लखिमा देवी का जिक्र आता है, जिससे विद्यापति और राजा शिव सिंह के संबंध की ऐतिहासिकता प्रमाणित होती है। इस प्रसंग में उल्लेखनीय है कि मध्यकालीन भारत का इतिहास - राजनीति, सामाजिक या सांस्कृतिक - जिसने भी लिखा है, उसने मिथिला और विद्यापति की उपेक्षा की है। इसलिए ऐसे इतिहासकार **विद्यापति** और **कीर्तिलता** की ऐतिहासिकता के प्रमाण नहीं बन पाते। जब इतिहास-लेखन में क्षेत्रीय इतिहास का महत्व बढ़ा, तब ऐतिहासिक दृष्टि से **विद्यापति** और **कीर्तिलता, कीर्तिपताका** और **लिखनावली** जैसी उनकी कृतियों का भी महत्व बढ़ा। इस

प्रसंग में प्रो.राधाकृष्ण चौधरी, डॉ. उपेन्द्र ठाकुर आदि के द्वारा मिथिला के इतिहास का अनुसंधान महत्वपूर्ण है। हिंदी के विद्वानों ने इस प्रसंग में जो काम किए हैं, वे भाषा के विकास और उसकी प्रकृति एवं साहित्यिक विवेचन तक सीमित है, वह काम डॉ.नामवर सिंह का हो या डॉ. शिवप्रसाद सिंह का या डॉ.वीरेन्द्र श्रीवास्तव का। इन विद्वानों से पहले डॉ.हरप्रसाद शास्त्री, डॉ.बाबू राम सक्सेना आदि के काम भी भाषावैज्ञानिक ही ज्यादा हैं। हाँ, हिंदी में डॉ.वासुदेवशरण अग्रवाल ने इतिहास की दृष्टि से भी विचार किया है। लेकिन इन सभी विद्वानों ने जिस दौर में काम किया, उस समय विद्यापति के अध्ययन के प्रसंग में मुख्य समस्या थी उनकी कृतियों का प्रामाणिक संस्करण तैयार करके प्रकाशित करना। मैथिली और संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान डॉ.उमेश मिश्र के सामने भी मुख्य समस्या यही थी कि कैसे प्रामाणिक पाठ तैयार किया जाए। इन सब सीमाओं के बावजूद सभी विद्वानों ने स्वीकार किया है कि विद्यापति शिव सिंह के समय थे और **कीर्तिलता** एवं **कीर्तिपताका** की रचना का ऐतिहासिक आधार प्रामाणिक है।

इस अध्ययन से जो प्रमुख बिंदु उभर कर आए हैं उसपर एक दृष्टि डाल ली जाए :

- विद्यापति के युग में राजनीति धार्मिक प्रभाव से मुक्त हुई।
- मिथिला का समाज सामंतवादी था; आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से निचले तबके के लोग राजनीतिक सत्ता के लाभ से वंचित थे। समाज वर्णों, जातियों और वर्गों में विभाजित था।
- **कीर्तिलता, कीर्तिपताका** और **लिखनावली** मध्यकालीन भारत के इतिहास लेखन में महत्वपूर्ण स्रोत बन सकते हैं।

विद्यापति की रचनाओं में उनका युग बोलता है। उनकी भाषा पर भी युग का पूरा प्रभाव है। आदिकाल में अपभ्रंश से मुक्त होने और देसी भाषाओं के उदय की प्रवृत्ति मिलती है। विद्यापति भी इस युग के प्रतिनिधि कवि हैं। अतः उनकी रचनाओं में भी यह प्रवृत्ति देखने को मिलती है। उनका "देसिल बयना" और "अवहट्ट" इसी प्रवृत्ति की ओर संकेत करता है। असल में **कीर्तिलता** और **कीर्तिपताका** में विद्यापति की भाषा करवट लेती प्रतीत होती है और इस रूप में भाषा के माध्यम से भी कवि पुराने युग से मुक्ति और आने वाले युग के आगमन का संकेत दे रहा था।

3.3 विद्यापति की भाषा

विद्यापति की मातृभाषा और मिथिला की सामाजिक-सांस्कृतिक भाषा भी मैथिली ही थी। यों मिथिला में विद्वानों के बीच संस्कृत की भी प्रतिष्ठा थी। विद्यापति ने अपनी सर्वाधिक महत्वपूर्ण रचना **पदावली** मैथिली में ही रची। मिथिला की विद्वत्परम्परा को मानकर उन्होंने संस्कृत में भी रचना की। लेकिन अवहट्ट में **कीर्तिलता** और **कीर्तिपताका** की रचना करने के पीछे यही बात प्रेरणा के रूप में काम कर रही होगी कि अपभ्रंश उस समय भी उत्तर भारत के राष्ट्रीय संदर्भ की भाषा थी और विद्यापति का रचनाकार केवल अपने क्षेत्र तक सीमित नहीं था।

3.3.1 जन भाषा का निर्माण

भाषा की दृष्टि से भी विद्यापति संक्रमण-काल में पड़ते हैं। अपभ्रंश का प्रभाव या अपभ्रंश में काव्य रचने की प्रवृत्ति लगभग समाप्त हो रही थी और आधुनिक आर्य भाषाओं का साहित्यिक उदय हो रहा था। भाषा, समाज और काव्य-सृजन के विकास की ऐतिहासिक प्रक्रिया पर गौर करने से यह स्पष्ट होता है कि जब कोई भाषा काव्यात्मक गरिमा पा लेती है और उसका एक परिनिष्ठित रूप शास्त्रीय स्तर पा लेता है तो सामान्य जनता या कहें सामान्य जन-मानस के लिए वह रूप दुरूह होने लगता है। जन-चेतना का प्रवाह आमफहम भाषा के साथ आगे बढ़ता रहता है। सामान्य जन के चेतना-प्रवाह और परिनिष्ठित या रूढ़ काव्य-भाषा का अंतर्विरोध नए दौर के रचनाकारों के द्वारा रुढ़ि को तोड़कर और प्रवाह के आग्रह को स्वीकार करके ही हल किया जाता है। उस ऐतिहासिक सच्चाई का अनुभव उस दौर में भी होता है, जब विद्यापति रचना कर रहे थे। उसे हम निम्नलिखित उदाहरणों से समझें। अपभ्रंश की उपलब्ध पुस्तकों में **अद्दहमःण (या अब्दुल रहमान)** का **संदेशरासक** और **विद्यापति** रचित **कीर्तिलता** मुख्य हैं। **अद्दहमाण** कहते हैं -

णहु रहइ बुध इकवित्तरेसि
अबुहत्तणि अबु हई णहु पवेसि।
जिण मुक्ख ण पंकिय मज्झयार

तिह पुरउ पठिब्बउ सब्ब वार।

अर्थात "बुद्धिमान तो उस काव्य में मन नहीं लगाएंगे और जो अबुध (मूर्ख) हैं, उनका काव्य में प्रवेश कैसा? अर्थात वे उसमें आनंद ही क्यों लेंगे! हाँ, वास्तव में मेरा काव्य उन साधारण जनों के लिए है जो न मूर्ख हैं और न पंडित।"

इस कथन की व्याख्या करें तो स्पष्ट होता है कि काव्य के क्षेत्र में बुद्धिमान तो वे समझे जाते हैं, जो संस्कृत समझते थे, मूर्ख तो अनपढ़ और नासमझ लोग थे जो काव्य नहीं समझते थे। इन दोनों के बीच साधारण जन थे जो संस्कृत तो नहीं जानते थे, लेकिन जन-भाषा में रचित काव्य में रुचि लेते थे। ऐसे ही साधारण जनों के लिए अद्दहमाण ने अपभ्रंश में काव्य-रचना की। यही साधारण जन हैं जिनकी चेतना के प्रवाह के साथ विकसित भाषा रचनात्मकता की नई समस्या को हल करती है। **इसी से मिलती-जुलती बात विद्यापति भी कहते हैं -**

सक्कअ वाणी बुहअण भावइ पाइअ रस को मम्म न पावइ।
देसिल बयणा सब जन मिट्ठा, तें तैसन जंपउ अवहट्टा।।

अर्थात "संस्कृत वाणी को बुधजन (पंडित लोग) ही अच्छी तरह समझते हैं, प्राकृत भाषा के रस का मर्म कोई नहीं पाता है। देसी वचन (बोली) सब लोगों को मीठा लगता है, अतः वैसे अवहट्ट का कथन करता हूँ।"

भाषा और समाज के संबंध का संक्रमण यहाँ अच्छी तरह दिखाई पड़ता है। संस्कृत पंडितों तक सीमित रह गई थी और प्राकृत का मर्म तो कोई नहीं समझता था, क्योंकि पंडित तो उसकी उपेक्षा करते थे और आम जनता उसे समझ नहीं पाती थी। बोधगम्यता और आत्मीयता के कारण देसी वचन यानी गाँवों के लोगों की बोली तो सबको मीठी लगती है, । इसलिए विद्यापति अवहट्ट को देसी बोली के साथ मिलाकर उसमें रचना करते हैं। कवि का उद्देश्य रचना को अधिकाधिक प्रेषणीय बनाना है, इसीलिए वह पंडिताऊ भाषा को जनता की बोलचाल की भाषा के नज़दीक ले जाता है। भाषा की संक्रमणशीलता को इस तरह और ठीक से समझा जा सकता है कि अद्दहमाण की भाषा में बोधगम्यता की प्रवृत्ति होने के बावजूद अयोगात्मकता कम है। उनकी भाषा अपभ्रंश के उस रूप को लेकर चलती है जो "विभक्तिरहित प्रयोगों में या परसर्गों के प्रयोगों में या इसी प्रकार के अन्य प्रयोगों में स्वयम्भू और पुष्पदंत के अधिक निकट है। उसमें इनका विरल प्रयोग ही है, यहाँ तक कि **संदेशरासक** की भाषा को प्राकृताभास समझा जा सकता है। विद्यापति की अवहट्ट भाषा अयोगात्मकता में आधुनिक भारतीय भाषा हिंदी आदि के बहुत निकट आ गई है।" (वीरेन्द्र श्रीवास्तव - कीर्तिलता, पृ.३०) ध्यान दें संदेशरासक की भाषा पूरी तरह प्राकृत नहीं, बल्कि "प्राकृताभास" है यानी अपभ्रंश और प्राकृत का मिश्रण उसमें है और **कीर्तिलता** की भाषा अवहट्ट में देसी भाषा का मिश्रण है। ऐसा इसलिए संभव हो पाया कि इस अवहट्ट का स्वरूप अधिक अयोगात्मक है, जो आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं की प्रकृति के निकट है। यह विशेषता केवल **कीर्तिलता** में नहीं, बल्कि **कीर्तिपताका** की भाषा में भी है। योगात्मकता से अयोगात्मकता की ओर या संश्लिष्टता से विश्लिष्टता की ओर भाषा का बढ़ना भाषा के विकास की ऐसी प्रक्रिया है जो भाषा को जनता की दृष्टि से सुगमता और सहजता की ओर ले जाती है। भाषा के विकास की इस प्रक्रिया में वाक्य के सभी अंग एक-दूसरे से अलग होते जाते हैं, शब्दों में सामासिकता की प्रवृत्ति लगातार घटती चली जाती है। यही है अयोगात्मकता या विश्लिष्टता। इससे भाषा में सुगमता आती है। इसके विपरीत, संस्कृत में सामासिकता प्रधान होती है। कभी-कभी तो पूरा वाक्य जुड़कर एक शब्द बन जाता है। इससे भाषा दुर्बोध हो जाती है और संधि एवं समास के नियम ही नहीं, उनके विश्लेषण में जो सिद्ध होता है, वही अर्थ समझ पाता है। भाषा के प्राचीन और आधुनिक रूपों की प्रकृति में यह फर्क वास्तव में गुणात्मक फर्क है। इस दृष्टि से विद्यापति के अवहट्ट की ऐतिहासिक विशेषता समझी जा सकती है।

विद्यापति की अवहट्ट की विशेषताओं को समझने के प्रसंग में उसके स्वरूप पर विचार करना जरूरी है। इस सिलसिले में इतना उल्लेख कर देना भी जरूरी है कि यह समझ गलत है कि संस्कृत के बाद प्राकृत और प्राकृत के बाद अपभ्रंश का विकास एवं प्रचलन हुआ। प्राकृत और अपभ्रंश भी पुरानी भाषाएं हैं। "शब्द सागर" में अपभ्रंश को "प्राकृत का परवर्ती रूप" कहा गया है। लेकिन भाषा के ऐतिहासिक एवं वैज्ञानिक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि "शब्द सागर" की समझ गलत है। अपभ्रंश का पहला उल्लेख आचार्य पतंजलि क महाभाष्य में मिलता है। पतंजलि के महाभाष्य का समय विद्वानों के द्वारा प्रायः 150 ईस्वी पूर्व माना जाता है। इस प्रकार अपभ्रंश का अस्तित्व जनता के बीच एक भाषा के रूप में प्राचीन काल में भी था, भले ही उस समय उसमें साहित्य नहीं रचा जा रहा हो। यों कुछ विद्वान यह समझाना चाहते हैं कि पतंजलि ने "अपभ्रंश" शब्द का प्रयोग भाषा के नाम के अर्थ में नहीं, बल्कि

शब्दों के विकारी रूप के अर्थ में किया है। यदि इस व्याख्या को मान लिया जाए, तब भी यह कहा जा सकता है कि विकार यानी परिवर्तन की प्रक्रिया में अपभ्रंश का स्वरूप जन-भाषा के रूप में विकसित हुआ और आम जनता का सामाजिक-सांस्कृतिक प्रभाव जब बढ़ा तब उसमें काव्य-सृजन भी होने लगा। इस विकासक्रम में लम्बा समय लगा है।

कीर्तिलता और **कीर्तिपताका** में अवहट्ट का जो रूप मिलता है, उसे डॉ.बाबू राम सक्सेना और शिवनंदन ठाकुर ने **मिथिलापभ्रंश** कहा है। इसका आधार संभवतः यह है कि अवहट्ट पर विद्यापति ने मैथिली का रंग चढ़ाने की कोशिश की है। डॉ. बाबू राम सक्सेना के सम्पादन में 1929 में **कीर्तिलता** का प्रथम प्रकाशन काशी नागरी प्रचारिणी सभा के द्वारा किया गया। उसी की भूमिका में डॉ.सक्सेना ने कहा कि विद्यापति की अवहट्ट मध्यकालीन प्राकृत और आधुनिक मैथिली के बीच की चीज़ है। उन्होंने **कीर्तिलता** और **कीर्तिपताका** की भाषा को अपभ्रष्ट रूप कहकर मैथिली अपभ्रंश करार दिया। लेकिन यह मत विद्वानों के बीच मान्य नहीं है। इस प्रसंग में डॉ.नामवर सिंह का यह कथन विचारणीय है - **कीर्तिलता** की भाषा को **वर्ण रत्नाकर** की भाषा के सम्मुख रखकर देखने से स्पष्ट होता है कि **वर्ण रत्नाकर** में बंगलापन अधिक है (भले ही वह अनुलेखन पद्धति के कारण आ गया हो) और **कीर्तिलता** में मैथिली-भोजपुरी-अवधी आदि के आरंभिक बीज। (हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग, नामवर सिंह प्रथम संस्करण, पृ.58-59) कहने का मतलब यह कि विद्यापति की अवहट्ट पर मध्यदेश और पूरब की तत्कालीन बोलियों का मिश्रित प्रभाव दिखाई पड़ता है। इसपर केवल मैथिली का प्रभाव नहीं है। वास्तविकता यह है कि **कीर्तिलता** की भाषा पर संस्कृत का भी प्रभाव है।

डॉ. शिव प्रसाद सिंह की भी मान्यता है कि विद्यापति की अवहट्ट को मैथिली अपभ्रंश या मिथिलापभ्रंश कहना ठीक नहीं है। डॉ.सिंह का कथन इस प्रकार है - ''कीर्तिलता की भाषा पर मैथिली का रंग अवश्य है, परंतु उसके मूल में शौरसेनी की प्रवृत्तियाँ हैं, इसे कौन अस्वीकार कर सकता है।''

श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और महापंडित राहुल सांकृत्यायन के विचारों का भी सहारा लेते हुए डॉ.शिव प्रसाद सिंह का निष्कर्ष यह है - **इन तमाम तर्क-वितर्कों और वाद-विवाद को मिटा देने के लिए यह उचित जान पड़ता है कि इस भाषा को परवर्ती अपभ्रंश या अवहट्ट नाम उत्तरी भारत की संक्रान्तिकालीन भाषा का एकमात्र उपयुक्त नाम हो सकता है।**

3.3.2 भाषागत विशेषताएँ

अवहट्ट में **कीर्तिलता** की रचना करने के प्रसंग में विद्यापति का जो भाषागत दृष्टिकोण रहा है, उसकी चर्चा पहले ही की जा चुकी है। उनके सामने सामान्य जन के लिए भाषा को बोधगम्य बनाना था, इसीलिए अवहट्ट को भी उन्होंने ''देसिल बयना'' यानी मैथिली का संस्पर्श अच्छी तरह दिया है। वे संस्कृत के भी निष्णात विद्वान थे, इसलिए संस्कृत का भी प्रभाव उनकी अवहट्ट पर है। **कीर्तिलता** का प्रारंभ तो संस्कृत छंद से ही किया गया है। उसके पीछे शायद यह प्रवृत्ति काम कर रही होगी कि विद्वानों के बीच प्रतिष्ठा के लिए संस्कृत-ज्ञान का परिचय देना जरूरी है। लेकिन उनकी संस्कृत ऐसी है कि संस्कृत का साधारण ज्ञान रखने वाला भी उसे समझ सकता है। भाषा को सरलता की ओर ले जाने की प्रवृत्ति यहाँ भी रही है। राजा कीर्ति सिंह के जीवन-प्रसंग के आधार पर रचे गए काव्य का नाम **कीर्तिलता** रखते हुए विद्यापति का ध्यान कहाँ था, यह निम्नलिखित प्रारंभिक पंक्तियों से ही स्पष्ट हो जाता है -

तिहुअण खेत्तहि कांइ तनु कित्तिवल्लि पसरेइ।
अक्खर खंभारम्भ जउ मंचा बंधि न देइ।।

अर्थात यदि अक्षर रूपी खम्भे को आरंभ में (काव्य को) बाँध न दिया जाए तो त्रिभुवन के क्षेत्र में उसकी कीर्ति की लता कैसे पसरे?

गाँव में किसान शाक-सब्जी की लता के फैलने के लिए बाँस-बल्ली से मंच का निर्माण करते हैं। विद्यापति ने अपने काव्य की लता के पसरने के लिए भाषा का मंच खड़ा किया और इसके लिए वे अक्षर-अक्षर पर ध्यान देते हैं। विद्यापति की भाषा-चेतना इस पद के विश्लेषण से भी स्पष्ट होती है। संस्कृत कीर्ति यहाँ ''कित्ति'' के रूप में और संस्कृत ''प्रसरति'' अथवा ''प्रसरित'' या ''प्रसरेती'' यहाँ ''पसरेइ'' के रूप में है ही। अक्षर तो अक्खर के रूप में है ही। ध्यान खींचता है ''खम्भारंभ'' शब्द। स्तम्भ ''खम्भ'' बन गया है, ''आरंभ'' तत्सम रूप में ही मौजूद है। संस्कृत के विद्वान तत्सम और तद्भव में संधि नहीं मानते, लेकिन विद्यापति ने व्याकरण के नियम की उपेक्षा करके ''खंभारंभ'' शब्द

बनाकर भाषा के विकास को नई गति दी है। एक नया आनंद आता है यह देखकर कि विद्यापति ने अपने नाम का भी अवहट्ट रूप बना दिया, जब वे अपनी भाषा के नए रूप पर गर्व करते हैं -

बालचंद विज्जावइ भासा दुहु नहिं लग्गइ दुज्जन हासा।
सो परमेसर सेहर सोइइ, इणच्चइ णाअर मन मोहइ।।

विद्यापति ''विज्जावइ'' हो गए हैं, जब कि ऐसा करना जरूरी नहीं था। दूसरी पंक्ति में ''शेखर'' ''सेहर'' बन गया है और निश्चय ''णिच्चइ'' के रूप में आया है। नागर णाअर हो गया है। विद्यापति के इस तरह के प्रयोगों का अध्ययन भारतीय आर्यभाषाओं के आपसी संबंध और आधुनिक आर्यभाषा के विकास के एक महत्वपूर्ण मध्यकालीन पड़ाव का ज्ञान देता है। इस दृष्टि से विद्यापति की ''देसिल बयना'' मिश्रित अवहट्ट भाषा का ऐतिहासिक महत्व है। **कीर्तिलता** और **कीर्तिपताका** का महत्व इस दृष्टि से भी बहुत अधिक है। यह ध्यान देने लायक है कि मैथिली कवि विद्यापति, जिनके बारे में कभी यह बहस थी कि वे मैथिली कवि हैं या बंगाली, वे ही **कीर्तिलता** और **कीर्तिपताका** की भाषा के माध्यम से हिंदी भाषा के विकासक्रम को समझने का आधार प्रस्तुत करते हैं और उससे मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा और आधुनिक भारतीय आर्यभाषा का संबंध समझ में आता है।

विद्यापति की अवहट्ट का भाषागत पाट या यह कहें कि अक्षर का ठाठ (मंच) इतना विस्तृत है कि उसमें राजस्थानी का भी प्रवेश हो गया है। राजस्थानी में मूर्द्धन्य ''ण'' के प्रयोग का बाहुल्य रहता है। विद्यापति के अवहट्ट में बाहुल्य तो नहीं, लेकिन अनेक शब्दों में ''ण'' को जगह मिल गयी है, जो पूर्वी प्रयोग नहीं है, मैथिली या हिंदी में तो यह प्रवृत्ति कतई नहीं है। ''णिच्चइ'', ''णाअर'' आदि पश्चिमी प्रयोग के प्रभाव के सबूत हैं।

संस्कृत, मैथिली और अवहट्ट का मिश्रण **कीर्तिलता** की भाषा में अनेक पदों में मिलता है। लेकिन निम्नलिखित पंक्तियों में उपर्युक्त मिश्रण का विलक्षण दृष्टांत मिलता है -

मध्याहन करि वेला संमर्द साज, सकल पृथ्वी चक्र करो वस्तु
बिकाए आए राज मानुसकरी पीसि वर आगे आंग डगर
आनक तिलक आनका लाग पात्रहूतह परस्त्रीक वलआ माँग।
ब्राह्मणक यज्ञोपवीत चांडाल का आ गल ।
वेश्यह्नि पयोधरे जतिांहे क हृदय चूर ।
धन संचरे धोल हाथि हति बापर चूरि जाथि।
आवर्त्त विवर्त्त रोलहो नगर नहि नर समुद्दओ।।

यहाँ मध्याह्न, वेला, सकल, पृथ्वीचक्र, वस्तु, परस्त्री, ब्राह्मण, यज्ञोपवीत, चांडाल, वेश्या, आवर्त्त, विवर्त्त आदि शब्द तत्सम हैं। लेकिन इन्हें अन्य स्रोतों से आए शब्दों के साथ वाक्य में इस प्रकार गुम्फित किया गया है कि इनका तत्सम होना पाठकों को महसूस नहीं होता। एक तो ये शब्द संस्कृत होते हुए भी प्रचलित शब्द हैं, दूसरे भाषा में क्रिया रूपों के प्रयोग के कारण सुगमता आ गई है। ''बिकाए आए'' क्रिया युग्म मैथिली और हिंदी के मेल से बने हैं। ''बिकाए'' मैथिली है, जिसका अर्थ ''बिकने के लिए'' और ''आए'' तो खड़ी बोली की क्रिया ''आना'' का भूतकालिक रूप है। ये विलक्षण रचनात्मक भाषा प्रयोग का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। ''आनक तिलक'' में ''आनक'' ठेठ मैथिली प्रयोग है जिसका अर्थ है - अन्य का। इस पद में ''का'' के लिए मैथिली ''क'' का प्रयोग अनेक जगह है।

कीर्तिलता की भाषा में मैथिली के प्रवेश य। प्रभाव का एक उदाहरण ध्यान देने योग्य है -

हिन्दू तुलुक मितल वास,
एकक धम्मे ओकाक हास।
कतहु बाँग, कतहु वेद
कतहु विसमिल कतहु छेद
कतहु ओझा कतहु खोजा
कतहु नकत कतहु रोजा
कतहु तम्बारू कतहु कूजा
कतहु नीमाज कतहु पूजा
कतहु तुलुका बल कर
बाट जाएते बेगार धर।।

जिस संक्रमणकाल में विद्यापति हुए, उसका भाषागत प्रतिफलन यहाँ हम देख सकते हैं। यों उपर्युक्त पंक्तियों में ''कतहु'' में हर पंक्ति के आने और अंत में ''जाएते'' क्रिया के प्रयोग में मैथिली का प्रभुत्व है, लेकिन तुलुक (तुर्क), बाँग, बिसमिल, खोजा, रोजा, नीमाज (नमाज) आदि फारसी शब्द अभिव्यक्ति की नयी आवश्यकता की पूर्ति कर हिंदी के शब्द-भंडार में वृद्धि कर रहे हैं। एक और प्रयोग यहाँ ध्यान खींचता है ''नकत'' जो तत्सम नक्षत्र और तद्भव नखत के ही फारसी उच्चारण के प्रभाव से बना शब्द है। **कीर्तिलता** की भाषा में फारसी के भी शब्द काफी मात्रा में पाए जाते हैं। दरवेस, मखदूम, हुकुम जैसे शब्द यथा-स्थान आते रहे हैं।

कीर्तिपताका की रचना भी अवहट्ट में ही की गई है, लेकिन विद्यापति के व्यक्तित्व के सांस्कृतिक स्वरूप का प्रभाव **कीर्तिपताका** की भाषा में अनेक स्थलों पर नयापन लिए हुए है। एक युवती के सौंदर्य का वर्णन देखिए -

दीरघ केश कपाल कुटिल कोमल घनस
दप्पमत्त कन्दप्प, धनु जनि बन्धिलु चामर।
निष्कलंक ससि बिम्ब सरिस सुन्दर मुखमण्डल,
पिअ अनुराग कहन्त सबन डोलबे कुण्डल।
गुरु पीन पयोधर भार भरे मत्त मतंगज मंदगति,
संसार सार सिंगार रस कमल रुचि तुल हरइ जुवति।

इस पद की भाषा संस्कृत प्रधान है। ऐसा लगता है कि पद के संदर्भ के अनुसार यहाँ कवि जयदेव से प्रभावित या प्रेरित हैं। लेकिन संस्कृत के ''दीर्घ'' ''दीरघ'', ''दर्प'' दप्प, ''कन्दर्प'', ''कंदप्प'', ''शृंगार'' सिंगार बनकर भाषा की विकास-प्रक्रिया का परिचय दे रहे हैं।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि विद्यापति की भाषा सामाजिक एवं ऐतिहासिक दृष्टि से सामासिक संस्कृति के विकास का भाषाई स्वरूप प्रस्तुत करती है। यह विद्यापति की अपनी विशिष्टता है। वे शब्दों के चयन में निःसंकोच इस सामासिकता का इज़हार करते हैं। क्रिया रूपों के प्रयोग में भी स्वच्छंदता बरतते हैं। परसर्गों का स्वतंत्र विभक्ति चिह्नों के रूप में प्रयोग करने की जो प्रवृत्ति **कीर्तिलता** में है, वह विद्यापति की अवहट्ट को आधुनिक भारतीय भाषा के विकास से जोड़ देती है। सामान्य जन को ध्यान में रखने और उनके बीच रहने के कारण बोलचाल की संज्ञाएं, क्रियाएं आदि धड़ल्ले से प्रयुक्त हुई है। आज के पाठकों और रचनाकारों के लिए प्रासंगिक बातें हैं विद्यापति के रचनात्मक प्रयोगों से निकलते हुए सिद्धांत या नियम। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि रचनाकार को विद्यापति के समान समाज की ऐतिहासिक गतिशीलता, जनता की मानसिकता, स्थानिकता के साथ ही व्यापक राष्ट्रीय-सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य आदि को ध्यान में रखना चाहिए।

3.4 सारांश

विद्यापति संक्रमण काल के कवि हैं। विद्यापति की रचनाओं पर इस संक्रमण का प्रभाव परिलक्षित होता है। उन्होंने चरित काव्य भी लिखे, शृंगार के पद भी लिखे और भक्ति में भी लीन हुए। संक्रमण काल के कवि होने के नाते विद्यापति का महत्व और भी बढ़ जाता है। उनमें अवसान और उदित होती प्रवृत्तियों का अद्भुत संगम दिखाई पड़ता है।

विद्यापति के समय में भारत में आम तौर पर दिल्ली सल्तनत का शासन था। उनके जीवन-काल में दिल्ली में तुगलक वंश और लोदी वंश का शासन रहा। एक सामान्य धारणा है कि भारतीय इतिहास के मध्यकाल में धर्म राजनीति की नियामक शक्ति हो गया था। **कीर्तिलता** की कथा इस धारणा को झुठलाती है। **कीर्तिलता** की कथा से जो दृष्टिकोण सामने आता है उससे लगता है कि राजनीति धार्मिक प्रभाव से मुक्त हो रही थी। आज के माहौल में विद्यापति की **कीर्तिलता** और भी प्रासंगिक हो उठी है।

विद्यापति-युगीन समाज सामंती समाज था। समाज वर्ण, जाति और वर्ग में विभाजित था। आर्थिक और सामाजिक रूप से विपन्न लोगों का दमन और शोषण होता था। राजा, महाजन और व्यापारी सुखी थे। **कीर्तिलता** में इस तथ्य का उल्लेख है कि हिंदू-मुसलमान साथ-साथ रहते थे। हिंदू समाज में जाति व्यवस्था और विवाह पद्धति और भी विकृत हुई। एक तरफ धन था दूसरी ओर गरीबी। समाज में आर्थिक विषमता बहुत गहरी थी। दास की स्थिति बहुत खराब थी। किसानों की हालत कुछ बेहतर थी।

विद्यापति की रचनाएँ खासकर **कीर्तिलता**, **कीर्तिपताका** और **लिखनावली** अपने समय के जीवंत दस्तावेज़ हैं। मध्ययुगीन इतिहास लिखने में इनका सार्थक उपयोग किया जा सकता है।

मैथिल कोकिल विद्यापति ने जनभाषा को साहित्यिक गरिमा प्रदान की। यह भी सही है कि साहित्यिक भाषा को वे जनभाषा के करीब ले गए। उनकी भाषा पर भी संक्रमण का प्रभाव है। इसलिए उनकी भाषा में नूतन और अभिनव प्रयोग मिलते हैं। उनकी भाषा भारतीय आर्य भाषा की अगुआ है। विद्यापति की भाषा उनकी काव्य प्रतिभा का उत्कृष्ट नमूना है। उसमें ऐतिहासिक गतिशीलता है, जनता के बोल हैं, स्थानीयता है। इसके साथ-साथ उनकी भाषा व्यापक राष्ट्रीय-सांस्कृतिक संदर्भ को समेट कर चलती है।

अगली इकाई में हम **विद्यापति पदावली** का अध्ययन करते हुए उनके काव्य-व्यक्तित्व का विशिष्ट परिचय प्राप्त करेंगे।

3.5 अभ्यास

निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर 200 शब्दों में दीजिए :

1. आज के संदर्भ में विद्यापति के राजनैतिक दृष्टिकोण का मूल्यांकन कीजिए।
2. विद्यापति की रचनाएं इतिहास का दस्तावेज़ किस प्रकार बन सकती हैं? सोदाहरण उत्तर दीजिए।
3. विद्यापति की भाषा की विशेषताओं और महत्व का विवेचन कीजिए।